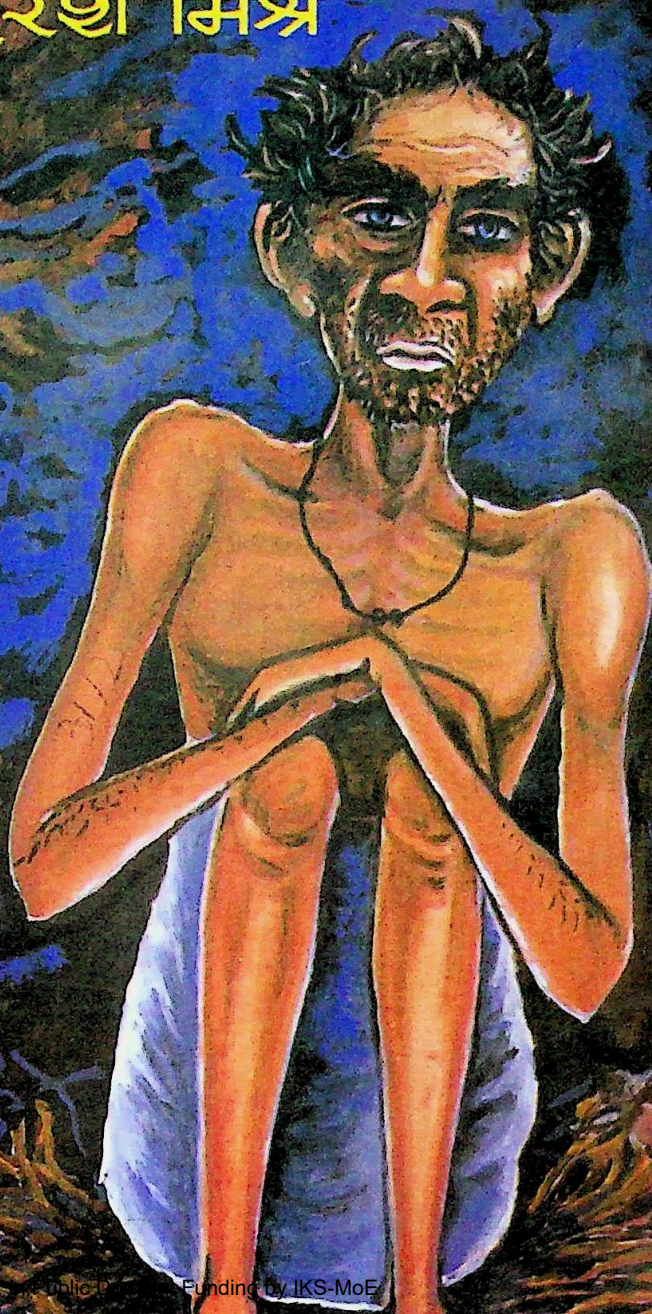


एक कहानी लगातार

रामदरश मिश्र



माँ मुसकराई। लगा जैसे दर्द से मुसकरा रही हो। बोली—‘बेटे, बहुत कुछ मेलता है। और मुझे तो यह चुभ रहा है के तुम मेरे बेटे होकर यह सबकुछ कह रहे हो। मैंने तुम्हें यह संस्कार तो नहीं देना चाहा था। तुम्हें इन गंदे गरीबों से इतनी घिन है तो इनका इलाज कैसे करोगे?’

‘इलाज की बात और है, माँ। ये मेरे यहाँ आएँगे तो भगा तो नहीं दूँगा। मुझे तो जो भी फीस देगा, उसका इलाज करूँगा।’

‘मगर वे तुम्हारी फीस कहाँ से दे पाएँगे? इसलिए वे वैसे भी तुम्हारे पास नहीं आएँगे!’

‘ठीक कहती हो, माँ!’

‘हाँ, लेकिन तुम ठीक नहीं कह रहे हो।’

‘क्या, माँ?’

‘वही, जो तुम कह रहे हो। जानते हो, इस देश में कितनी बड़ी संख्या है इन अभागों की? क्या उच्च शिक्षित लोगों का इनके प्रति कोई दायित्व नहीं होता? डॉक्टर इनका इलाज न करें, वकील इनका केस न लड़ें, शिक्षक इन्हें पढ़ाएँ नहीं, नेता और अफसर इन्हें अपने पास न फटकने दें, पुलिसवाले इन्हें कीड़े-मकोड़ों से बदतर समझें तो इनका क्या होगा? पैसेवाले इन्हें गरीबी और गंदगी में झोंककर सारी सुख-सुविधाओं पर कुंडली मारे बैठे हैं। आखिर यह कब तक चलेगा? क्या इनके घावों पर फाहा रखने का दायित्व हम लोगों का नहीं होता?’

‘वाह माँ, तुम तो कवि हो गई हो। लेकिन आज कविता से काम नहीं चलता। और जिन्हें तुम गरीब कह रही हो, उनकी झुगियाँ में जाकर देखो, वहाँ क्या नहीं...’

Digitized by eGangotri
Acc no. 3112

..स्कैड / Scanned..

एक कहानी लगातार



••स्केड/Scanned••



एक कहानी लगातार

रामदरश मिश्र

प्रकाशक : रामदरश मिश्र

३०१, गुरु नानक भवन, दिल्ली

१०००११ - दिल्ली

प्रकाशक : रामदरश मिश्र

१००१, दिल्ली

प्रकाशक : रामदरश मिश्र

प्रिय भाई
डॉ. रामदेव शुक्ल को,
जिनके जीवन और साहित्य में
अपने ग्राम-परिवेश का सहज स्वर है ।

ये कहानियाँ

इधर मैंने एक निरंतरता में कुछ छोटी-छोटी कहानियाँ लिखीं, जिनमें अपने और आसपास के जीवन में घटित कुछ छोटी-छोटी घटनाओं और अनुभवों को, कुछ लोक-कथाओं एवं प्रसंगों को समकालीन जीवन-संदर्भ में रचने का प्रयत्न किया है। इन कहानियों में कोई बात कहना ही मेरा उद्देश्य रहा है—वही यहाँ मुख्य है। अतः कुछ कहानियाँ ('भाषा', 'पुरस्कार', 'सम्मान', 'जहर', 'पटाखे') ऐसी हैं, जो कहानी के रूप का हलका-सा ही आधार लेती हैं और विचार में बदल जाती हैं या विचार चलते-चलते कहानी के रूप का सहारा ले लेता है। इस प्रकार इन चार-पाँच कहानियों में कथा और निबंध की सहयात्रा चलती रहती है। बाकी कहानियों में 'बात' कहानी के फॉर्म का पूरा-पूरा आधार ग्रहण करती है। यानी ये कहानियाँ कहानियाँ हैं—भले ही अपने लघु आकार के कारण ये चरित्रों और स्थितियों का वैसा व्यापक और जटिल विधान नहीं करतीं जैसा लंबी कहानियों में संभव होता है।

—रामदरश मिश्र

कहानी-क्रम

१. एहसान	११
२. एक खेल	१४
३. मैया मैंने लाल बख्शी दे	१६
४. साढ़ेसाती	१९
५. एक सहपाठी दिल्ली में	२३
६. प्रपंच : पाँच कहानियाँ	२९
(१) राजा गार्डन जाना है	२९
(२) अध्यात्मवाद	३०
(३) नेमप्लेट	३३
(४) वह औरत	३६
(५) तीसरी आँख	३९
७. चिकित्सा	४२
८. गोहत्या	४६
९. नए-पुराने	५२
१०. पुरस्कार	५७
११. जहर	६१
१२. शिक्षा	६५
१३. माँ	६९
१४. विनम्रता	७२
१५. सरस्वती-पुत्र	७७
१६. हँसी	८०
१७. भाषा	८३
१८. पहचान	८६
१९. सफेद चोरी	९०

२०. वह बदहवास भीड़	९२
२१. सम्मान	९४
२२. नेता	९६
२३. सच है बुढ़ी, सच है	१०१
२४. इज्जत	१०३
२५. डाल से लटका हुआ	१०६
२६. सवेरे-सवेरे	११०
२७. पटाखे	११५
२८. संवाद	१२०
२९. प्यास	१२३
३०. अनर्गल	१२७
३१. ढिल्लन ढौंढियाल	१३०
३२. विरोध	१३२
३३. हँसें या रोएँ	१३८
३४. एक कहानी लगातार	१४०

एहसान



नागपंचमी का दिन था। उस दिन हम बच्चे खेत में चिक्का कबड्डी खेलते थे, कुश्ती लड़ते थे। खेल-कूद का कार्यक्रम तब तक चलता था जब तक गाँव की लड़कियाँ पानी में पुतरी बहाने और घुघुरी बाँटने के लिए नाले के किनारे नहीं आ जाती थीं। उनके आते ही हम अपने-अपने रंगे हुए डंडे लिये हुए नाले के किनारे पहुँच जाते थे और पुतरी पीटने लगते थे।

हाँ, तो हम चिक्का खेल रहे थे। हमारे साथ हरिजन युवक संतू भी था। वह हमसे कुछ बड़ा था और ताकतवर भी। वह हमारे पट्टीदार का हलवाहा था; वह जिस टीम में था, वह जीत रही थी। हम हार रहे थे। हमारी खीज बढ़ती जा रही थी। फिर संतू ने मुझे आउट करने के लिए पाँव फेंका और पाँव मेरे पेट पर लगा। मैं खेलना छोड़कर गाली बकता हुआ उसे पीटने लगा। वह समर्थ होकर भी पिटता रहा।

“अरे क्या हुआ, क्या हुआ?” कहते हुए लोग एकत्र हो गए।

“हार रहे हो तो इसे मारना शुरू कर दिया!” दो-एक ने कहा।

“मारूँ नहीं तो क्या करूँ! इस चमार को आप लोगों ने शामिल कर लिया है, अब मैं इसका पाँव पकड़ने से तो रहा। मैं इससे बचकर भागता फिरता रहा कि इसका पाँव मेरे ऊपर न लग जाए, लेकिन पेट में लग ही गया। पाँव पर लगता रहा तो सहता रहा; अब सिर, पेट, पीठ पर चमार-सियार की लात तो खाने से रहा!”

संतू कुछ बोला नहीं, उदास होकर खेल से अलग हो गया और धीरे-धीरे वहाँ से चला गया। लेकिन विरोधी पक्ष के कुछ लोग कहते रहे—‘यह तो खेल खेलना नहीं हुआ। खेल में जात-पाँत कहाँ देखते हैं! हारने लगे तो जाति याद आने लगी। हुँह!’

मेरा भी मन उखड़ गया था। संतू तो चला गया, किंतु मैं वहाँ होकर भी वहाँ नहीं था। लड़कियाँ आई, पुतरी पीटी गई, घुघुरी बँटी और लोग खाने-पीने के लिए घरों को लौटने लगे। मैं भी धीरे-धीरे घर की ओर चल पड़ा; किंतु अकेला।

गाँव के पास पहुँचा तो उससे सटे हुए उस छोटे से नाले को देखा, जिससे हहराता हुआ बाढ़ का पानी गुजरता था और बड़ी पोखरी में मिल जाता था। फिर चारों ओर के खेत-खलिहान, बाग-बगीचे जल में डूब जाते थे। इस साल बाढ़ नहीं आई थी, इसलिए यह नाला उफना नहीं था। उसमें थोड़ा-सा पानी था। हलकर (घुसकर) पार तो हो गया, लेकिन उसे पार करते हुए मेरे अतीत का एक टुकड़ा तेजी से कौंध उठा।

‘हाय, मैंने यह क्या किया!’

हाँ, उस साल मैंने तैरना सीखा था। तैरना आते ही उत्साह मन में भर गया था और इच्छा होती थी कि तैरता ही रहूँ, तैरता ही रहूँ। उस दिन इस छोटे से नाले में तैर रहा था। इस पार से उस पार और उस पार से इस पार हो रहा था। बहुत उल्लास था। तैरते-तैरते मैं प्रवाह के साथ गहरी पोखरी के जल में जा पड़ा। अब तो मेरे होश उड़ गए। यहाँ तो प्रवाह चौड़ा व तेज हो गया था और चारों ओर जल-ही-जल था। यदि मैं बह गया तो न जाने कहाँ जाकर समाप्त हूँगा। मैं प्रवाह के विपरीत तैरने लगा और ज्यों-ज्यों तैरता था, लहरों द्वारा पीछे ठेल दिया जाता था। उस हड़बड़ाहट में यह बात अकल में नहीं आई कि प्रवाह से छिटककर शांत पानी में आ जाऊँ और फिर तैरकर किनारे लग लूँ।

संतू अपने गोसयाँ के दरवाजे पर रस्सी बट रहा था। उसने मुझे इस हालत में देख लिया और आव देखा न ताव, छपाक से पोखरी में कूद पड़ा। तेजी से तैरता हुआ मेरे पास आया और मुझे पकड़कर प्रवाह से छुड़ाया; फिर मुझे ठेलता हुआ किनारे तक ले आया।

और सबसे बड़ी बात यह थी कि यह बात वहीं दब गई। उसने किसीसे इसका जिक्र तक नहीं किया और मैं भी डाँट खाने से बच गया। आज इस घटना के याद आते ही मुझे अपने पर धिक्कार होने लगा। उसकी जिस ताकत से मुझे उस दिन जिंदगी मिली थी, उसीसे आज मैं अपमानित हो गया! चाहा, संतू को खोजकर उससे माफी माँग लूँ। लेकिन वह इस समय कहाँ होगा?

तब तक देखा कि संतू लोटा-थाली लिये अपने गोसयाँ के यहाँ खाना लेने जा रहा था। उसे देखकर मैं ठमक गया।

“संतू!” मैंने पुकारा।

“क्या है, महाराज ?” उसने ठंडे स्वर में कहा।

“अरे, यार बुरा मान गए क्या ? मैं अपनी गलती महसूस कर रहा हूँ। मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था। माफ करना यार !”

संतू थोड़ा चौंका। फिर बोला—“आप यह कैसी नई बात कह रहे हैं, महाराज। अरे, इस गाँव में बाबा लोग हम लोगों की क्या-क्या दुर्गति नहीं करते, लेकिन आज तक मैंने किसीके मुँह से यह बोली नहीं सुनी।”

“संतू, तुम्हें याद है, एक बार मैं इसी नाले में बहकर सामनेवाली पोखरी में आ गया था ?”

“मुझे याद नहीं।”

“और तुमने इस पोखरी में कूदकर मुझे डूबने से बचाया था ?”

“नहीं, मुझे कुछ याद नहीं है। अरे बाबा, हम लोग तो जिस दिन जीते हैं उसीको याद रखते हैं—कहाँ काम करना है, कहाँ से मजूरी मिलनी है, कहाँ से खाना मिलना है; कल क्या हुआ, यह याद नहीं रखते। उसमें याद रखने लायक कोई चीज होती ही नहीं। सब जहर-ही-जहर तो है, फिर क्यों जहर को याद में ढोया जाए !”

“अरे भाई……”

“छोड़िए महाराज, मुझे भूख लगी है।” कहकर वह गोसयाँ के दरवाजे की ओर सरक गया और मैं अवाक्-सा जहाँ-का-तहाँ खड़ा था—कमाल है, मुझपर इतना बड़ा एहसान करके भी वह भूल चुका है। बड़े लोग तो ऐसी घटनाओं को तमगे की तरह अपने माथे पर लटकाकर घूमते हैं और उसे भुनाते रहते हैं।



एक खेल



चुनाव का शोर उमड़ा हुआ था। कारें, जीपें, टैंपो, ताँगे—सभी तमाम पार्टियों के पोस्टर पहने हुए, अनेक झंडे लहराते हुए दौड़ रहे थे और सभी के ऊपर से माइक गरज रहे थे, 'अमुक पार्टी को वोट दो, अमुक पार्टी को वोट दो'। सारे दल एक-दूसरे की बखिया उधेड़ते हुए देश और समाज के प्रति अपने वायदे छींट रहे थे। एक पोस्टर दूसरे पोस्टर को मुँह चिढ़ाता हुआ उसके पास ही अपनी विगत उपलब्धियों और भावी क्रिया-कलापों का डंका बजा रहा था।

लोग आपस में बहस कर रहे थे और भिन्न-भिन्न दलों के बारे में भिन्न-भिन्न राय उछाल रहे थे। भिन्न-भिन्न उम्मीदवारों के चरित्रों की फेहरिस्त खोले हुए थे। अरे, यह तो डाकू था; अरे, इसने तो कई खून किए हैं; अरे, यह तो चोर-बजारिया है; अरे, यह तो तमाम गुंडे पाले हुए हैं।

“हाँ, लेकिन यह भी तो देखो कि इतने पर भी वह लोगों का कितना काम करता है। भले लोग लेकर क्या करोगे, जो काम ही न करते हों?”

“क्यों, भले लोग काम नहीं करते? क्या पहले के वे नेता भले नहीं थे, जिन्होंने देश के लिए कुरबानियाँ दीं और जिन्होंने देश के निर्माण में अहम भूमिका निभाई है” अरे भाई, इतनी पार्टियों को तो देख लिया गया, अब अगर यह पार्टी आती है तो निश्चय ही अच्छा होगा।”

“क्या खाक अच्छा होगा, सबको देख लिया है!”

यह सब सुनता-सुनता मैं कचहरी में पहुँच गया। देखा, एक जगह मजमा लगा हुआ है। मैं भी उधर सरक गया।

देखा, एक मदारीनुमा आदमी अपना ताम-झाम फैलाए वहाँ बैठा था—“हाँ तो मेहरबान, कदरदान! आइए, एक राष्ट्रीय खेल देखिए। मेरे पास तीन पंछी हैं। आइए, इनका कमाल देखिए!” अब मेरा ध्यान उन पंछियों की ओर गया। देखा,

तीन पिंजड़ों में तीन तोते थे। तीनों अलग-अलग जाति के लग रहे थे।

“हाँ तो प्यारे पेटू राम ! मेहरबानों, कदरदानों से तुम क्या कहना चाहते हो ?”
लोग उत्सुक हो उठे।

“एक पैसा कोई मुझे दे देता।” पेटू राम बोले।

लोग हँसने लगे, “अरे वाह रे पेटू राम !”

“देद हो, देखीं का करे लें !” (दे दो न, देखो ये क्या करते हैं !)

बेटू राम की बोली सुनकर लोग खुशी से तालियाँ बजाने लगे। “अरे वाह रे बेटू राम !”

बेटू राम की आवाज फिर आई, “देद हो, देखीं का करे लें ! देद हो, देखीं का करे लें !”

लोग खुशी से तालियाँ बजा रहे थे। मदारी ने कहा, “मेहरबानो, कदरदानो, बेटू राम की बात पर आप खुश तो हो रहे हैं, लेकिन वह जो कह रहे हैं, वह कर नहीं रहे हैं।”

तब लोगों को ध्यान आया, ‘अरे हाँ, यह तो पैसा देने को कह रहा है।’ फिर क्या था, पैसे गिरने लगे। जब पैसे गिर चुके तो लोग उत्सुकता से देखने लगे कि देखें तो अब पेटू राम इन पैसों का क्या करता है। और यह तीसरा पंछी क्या करता है !

“धर गोलक्क में, धर गोलक्क में, धर गोलक्क में।” (यानी सारे पैसे बटोरकर गोलक में रख ले) समेटू राम बके जा रहा था।

फिर जोर की ताली बजी और मदारी ने सारे पैसे बटोरकर अपने झोले में डाल लिये।

लोग सोच रहे थे कि देखें, अब इसके बाद क्या होता है कि सारे पंछी एक स्वर में बोले, “अलविदा, अलविदा, हमारे मेहरबानो, कदरदानो !”

मदारी वहाँ से सरक गया और भीड़ शायद सोचती खड़ी रही, ‘यह कौन-सा खेल है भैया, कि बिना कुछ किए-दिए मदारी पंछियों से खाली कुछ शब्द सुनवाकर हमारे पैसे बटोरकर चला गया। यह तो अद्भुत धोखा है।’

मैं वहाँ से आगे बढ़ा तो देखा, फिर वही बड़े-बड़े वायदोंवाले चुनावी-पोस्टर और नेताओं के चित्र यहाँ-वहाँ रंग-बिरंगी अदा में चमक रहे थे और एक-दूसरे के विरुद्ध होने के बावजूद पास-पास सटे थे।



मैया मैंनूँ लाल बख्शी दे



आज माता का जागरण हो रहा था। कई दिनों से एक छोटे से पंडाल में एक मेज पर उनकी फोटो रख दी गई थी। उनके गले में और आसपास फूलों की छटा बिखर रही थी। सामने थाल था, जिसमें रोली-चंदन रखा हुआ था। माइक पर माता-गीत लगातार बज रहा था। एक व्यक्ति माता के पुजारी का बाना धारण किए हुए बैठा था। लोग आते थे तथा सिर झुकाकर माता को प्रणाम करते थे और थाल में कुछ पैसे डाल देते थे। भक्त बना व्यक्ति उसे टीका लगाता था। जो अंदर नहीं जाते थे, वे बाहर से ही सिर झुकाकर आगे बढ़ जाते थे।

हाँ, इतने दिनों की भूमिका के बाद विशाल देवी-जागरण हो रहा था। कुछ युवक मुझसे भी चंदा माँगने आए थे। मैंने पूछा था—“माइक पर रात-भर चिल्ला-चिल्लाकर क्यों लोगों की नौद हराम करते हो?”

“अरे! कैसे नास्तिक आदमी हैं आप, जो माताजी के विरुद्ध ऐसी बात कर रहे हैं!”

“नहीं, आप गलत समझ रहे हैं। मैं नास्तिक हूँ या आस्तिक, यह सोचना आप लोगों का काम नहीं है। हाँ, मैं दूसरों की आस्था का अपमान नहीं करता। माँ के विरुद्ध भी कुछ नहीं कह रहा हूँ।”

“आस्था का अपमान भी कर रहे हैं और माँ के खिलाफ भी बोल रहे हैं।”

“अच्छा बताइए, माँ में आपकी आस्था है?”

“हाँ, है क्यों नहीं? आस्था नहीं होती तो इतना बड़ा देवी-जागरण क्यों कराते?”

“देखिए, आस्था लाउडस्पीकर पर नहीं बोलती, वह मौन होती है; और माँ भी सर्वज्ञा हैं, वे बहरी नहीं हैं कि इतने लोग मिलकर माइक पर चिल्लाते हैं। और सुनिए, भगवान् या देवी-देवता में सही आस्था आत्मा की शुद्धि के लिए होती है, लेन-देन के लिए नहीं। माँ रुपए-पैसे और खुशामद की भेंट नहीं चाहती

हैं; वे तो माँ हैं, प्यार चाहती हैं, समर्पण चाहती हैं। आप यदि सच्चे भक्त हैं तो चुपचाप उन्हें अपने भीतर देख सकते हैं। लेकिन लोग तो उन्हें भी दुनिया की अफसर समझ बैठे हैं—चढ़ावा देकर बेटा, पैसा, मकान, नौकरी, तरक्की माँगते रहते हैं।”

“आप झूठ कह रहे हैं।”

मैं मुसकराया। बोला—“अपने पंडाल से उठता हुआ यह गाना सुन रहे हैं।”

उन्होंने गाने पर कान लगाया।

गाना बज रहा था—‘मैया मैनुँ लाल बख्शी दे’।

“चलो जी, यह नास्तिक आदमी चंदा तो नहीं ही दे रहा है, ऊपर से बक-बक कर रहा है।”

वे चले गए। मैं मुसकराता रहा—वाह रे भक्तो! अरे कौन नहीं जानता कि लाला चंपतलाल को लॉटरी में दस लाख रुपए मिले हैं। वे देखते-देखते परचून के दुकानदार से बड़े सेठ हो गए। वे इस लॉटरी के इनाम को देवी का प्रसाद मानते हैं। उन्होंने पिछले वर्ष भी देवी-जागरण कराया था और प्रार्थना की थी—‘हे मइया, लॉटरी का इनाम मिल जाए तो तुम्हारे इस भक्त का दुःख-दलिद्दर दूर हो जाए’। उन्हें दुःख-दलिद्दर तो पहले भी नहीं था, अच्छी-खासी दुकान चलती थी और ठगी में उनकी महारत अपने उत्कर्ष पर थी; लेकिन अब वे मालदार हो गए हैं।

लेकिन उन्हें एक बड़ा कष्ट यह है कि उन्हें चार बेटियाँ हैं, बेटा एक भी नहीं। अबकी बार बेटा प्राप्त करने के लिए देवी-जागरण करा रहे हैं। उन्हें विश्वास हो गया है कि चढ़ावा चढ़ाकर माँ से जो माँगोगे, मिल जाएगा।

सो देवी-जागरण हो रहा है। हमारी गली पवित्र गीतों से गूँज रही है। गायक भक्तों की बहुत महँगी व्यावसायिक मंडली आई हुई है। फिल्मी तर्ज पर बने हुए भक्ति-गीत उनके सोमरस-सिक्त कंठों से फूट रहे हैं और पूरी गली के लोगों की नाँद को रौंद रहे हैं। इम्तहान की तैयारी करते छात्र माथा पीट रहे हैं, दिन-भर की मजदूरी से टूटी हुई देह तड़प रही है, बुखार में तपते हुए लोग छटपटा रहे हैं। हाँ, जो लोग कीर्तन में शामिल हैं या जो इन गीतों को पवित्रकारी भक्ति-प्रसाद समझते हैं, वे अपनी पीड़ा में भी प्रसन्न हैं या कम-से-कम अप्रसन्न नहीं हैं।

शोर से लड़ते-लड़ते रात के अंतिम पहर में थोड़ी-सी नाँद आ गई थी। एकाएक पत्नी ने जगाया—“अरे उठो तो, देखो सामनेवाले मकान में लोग क्यों रो रहे हैं?”

१८ ❖ मैया मैनुँ लाल बख्शी दे

मैं एक आशंका से काँप गया। उस घर में एक छोटा-सा बच्चा कई दिन से बीमार था। उसे कहीं कुछ हो न गया हो!

भागा-भागा वहाँ गया तो देखा, बच्चे की लाश जमीन पर रखी हुई थी और माँ छाती पीट-पीटकर रो रही थी। पिता गुमसुम बैठे थे। हमें देखते ही बिलख उठे—“कई दिन से बीमार था। रात बुखार काफी तेज हो गया। बेचैन होकर रात-भर कहता रहा—‘पिताजी, इस शोर को बंद कराइए न। बड़ी बेचैनी हो रही है।’ अब मैं यह शोर कैसे बंद कराता, आप ही बताइए। धर्म का मामला है।”

“हाँ, यह शोर धर्म का मामला बन गया है। इसे कोई कैसे बंद कराए!”

छाती पीट-पीटकर चीखती माँ की व्यथा सही नहीं जा रही थी। थोड़ी देर बाद वहाँ से निकला तो सुना, भक्त शिरोमणि लोग चीख-चीखकर गा रहे थे—‘मैया मैनुँ लाल बख्शी दे’।

मुझे लगा कि चंपतलाल को देने के लिए यह बच्चा छीन लिया गया है।



साढ़ेसाती



वह चलते-चलते थक गया था। लेकिन अब मंजिल सामने थी। वह रास्ते के किनारे बैठ गया। वह आलीशान आश्रम को देखने लगा। हाँ, यही आश्रम है महान् तांत्रिक रोहित स्वामी का। किसीने उससे कहा था कि इस महान् तांत्रिक से मिलो, बड़े सिद्ध पुरुष हैं। तुम्हारे ऊपर जो दैवी प्रकोप है, उसका शमन कर देंगे और तुम्हारा भाग्य चमक उठेगा। यहाँ एक-से-एक मुसीबतजदा लोग आते हैं और प्रसन्न होकर जाते हैं। वह दस कोस पैदल चलकर यहाँ पहुँचा था। सोचा, अंदर चलूँ और तांत्रिक का आशीर्वाद लूँ।

लेकिन यहाँ तो गाड़ियों की भरमार लगी है। एक-से-एक शानदार गाड़ियाँ यहाँ रुक रही हैं। इनमें से एक से बढ़कर एक चिकने नर-नारी चेहरे उतर रहे हैं: दोनों हाथों की अनेक उँगलियों में कीमती अँगूठियाँ चमचमा रही हैं। तन पर रेशमी वस्त्र अपनी आभा फेंक रहे हैं। कारों में से चमचमाते हुए पैकेट उतारे जा रहे हैं: शायद चढ़ावे के लिए हों। वह सोच रहा था कि इन देवताओं को कौन-सा दुःख है भाई, कि उसे दूर कराने के लिए तांत्रिकजी की शरण में आ रहे हैं। आगे बढ़ने की उसकी हिम्मत नहीं हो रही थी। पुलिस का पहरा लग रहा था। गेट पर साधुओं के वेश में कुछ लोग खड़े थे। बहुत देर हो गई बैठे हुए। वह आगे बढ़ा तो एक साधु ने कहा—“अरे भाई, तू कहाँ अंदर घुसा चला जा रहा है! देखता नहीं है, मंत्रीजी अंदर गए हैं।”

“अरे स्वामीजी, मैं बहुत दुःखी आदमी हूँ। मैं गुरुजी का दर्शन करना चाहता हूँ, ताकि मेरा दुःख-दलिदूर दूर हो। वे बताएँगे कि मेरा भाग्य इतना खराब क्यों चल रहा है?”

“देख भाई, गुरुजी इतने सस्ते नहीं हैं कि इखारियों-भिखारियों का भाग्य देखते चलें। जिसका कोई भाग्य ही नहीं है, उसका कोई क्या भाग्य देखेगा? और भाग्य दिखाना ही है तो देख, फुटपाथ पर तोता लिये हुए बहुत से ज्योतिषी बैठे रहते हैं, उन्हें दिखा ले।”

२० ♦ सादेसाती

“स्वामीजी, दया कीजिए।”

“अरे हट, देख मंत्रीजी आ रहे हैं।” कहते हुए एक स्वामी ने उसे ढकेल दिया और पुलिस का एक सिपाही उसे पकड़कर दूर ठेल आया।

वह बहुत आहत हुआ। थोड़ी दूर पर एक ढाबा दिखा। वह उधर को सरकने लगा। उसने जेब टटोली—हाँ, चाय-भर को पैसे हैं। वह एक बेंच पर बैठ गया। चाय के लिए बोला तो ढाबेवाले ने उसका हुलिया देखकर जानना चाहा कि कोई इखारी-भिखारी तो नहीं है। ढाबेवाले का आशय समझकर वह बोला—“पैसे हैं, भाई।” वह मुसकराया, ढाबेवाला भी मुसकरा उठा।

उसकी बगल में दो नवयुवक चाय पी रहे थे। आपस में बात कर रहे थे—“सुबह से ही कई मंत्री आ चुके। कल सुपर स्टार अनंगजी आए थे। परसों करोड़पति भिखारीलालजी आए थे; और छोटे-मोटे नेता-अभिनेता तथा सेठ तो दिन-भर आते ही रहते हैं।”

“भैया, मैंने तो सुना था कि ये रोहित स्वामीजी लोगों का दुःख-दलिद्दर दूर करते हैं; यहाँ तो सारे देवता लोग आ रहे हैं। उन्हें क्या दुःख है?” उसने डरते-डरते उन युवकों से पूछा।

उन दोनों ने एक साथ उसे देखा। वह थोड़ा घबराया कि कहीं ये सब बुरा न मान गए हों।

“भाई, लगता है, आप कहीं से नए-नए आए हो। अरे, सबसे बड़ा दुःख तो इन्हीं लोगों को है।”

इतना कहकर वह युवक चुप हो गया। उसे लगा कि बात तो और उलझ गई। सबसे बड़ा दुःख इन्हीं लोगों को है—इसका क्या मतलब? लेकिन वह युवक बुरा न मान जाए, इसलिए आगे पूछने की हिम्मत नहीं हुई। किंतु वह युवक समझ गया कि यह बेचारा गरीब आदमी उलझन में पड़ गया है। वह बोला—“भैया, तुम्हें मालूम है न, चुनाव आने वाला है?”

“हाँ, सुन तो रहा हूँ।”

“और यह भी जानते हो न कि एक बार जो मंत्री की कुरसी पर बैठ जाता है, वह देश को अपनी जागीर समझने लगता है और न जाने उससे क्या-क्या उगाहता रहता है। और जब चुनाव आता है तब वह डर जाता है कि उसकी इतनी बड़ी जागीर कहीं छिन न जाए। उसने जनता के लिए कुछ काम तो किया नहीं होता है, इसलिए उसका डर स्वाभाविक है। कुरसी हिलती हुई लगने लगती है। उसका दिन का चैन और रात की नींद हराम हो जाती है। तब रोहित स्वामी के यहाँ भागता है। किसीकी जागीर छिन जाना कम तकलीफ की बात है क्या?”

‘समझा’ के भाव से वह सिर हिलाने लगा।

“और देखो, चुनाव के दिन आते ही सभी मंत्रियों को साढ़ेसाती लग जाती है। और सेठों को देखो तो लगता है, बेचारे कितनी विपत्ति के मारे हुए हैं। उन्हें चिंता रहती है कि रातोंरात एक करोड़ का दस करोड़ कैसे हो? कैसे उनका स्मगलिंग का सामान सही-सलामत अपनी जगह पहुँच जाए? कैसे वे ईमानदार अफसरों और नेताओं को खरीदकर हराम की अपनी सारी कमाई पचा सकें? कैसे वे अपने खिलाफ उठे मजदूरों के आंदोलन को दबा सकें? इन्हीं चिंताओं में न तो वे ढंग से खा पाते हैं, न सो पाते हैं और इलाज खोजने स्वामीजी के पास चले आते हैं। कुछ समझ रहे हैं आप?”

“हाँ बाबू, समझ रहा हूँ।”

“और ये अभिनेता भी तो यश, पैसे और भविष्य की असुरक्षा के डर के मारे हुए हैं। जनता कब तक उनकी जय बोल रही है और कब उठाकर बाहर फेंक देगी, किसीको पता नहीं। इसी डर से और प्रतिस्पर्धा में दूसरों को पटकने की महत्वाकांक्षा से ये स्वामीजी की शरण में आया करते हैं। और स्वामीजी उन्हें अभय वरदान देते रहते हैं। देखा नहीं, ये तमाम अभिनेता बाँह में गंडा और गले में ताबीज बाँधे रहते हैं और ताबीज में इस स्वामी की या किसी और स्वामी की छोटी-सी तसवीर मढ़ी रहती है। ये सब भिखारी हैं, और सच पूछो तो भइया, यह स्वामी खुद ही बड़ा भिखारी है; यह औरों का कष्ट दूर करने का स्वाँग करता हुआ अपने सुखों का पहाड़ खड़ा करता रहता है।”

“अरे भाई, यही क्यों, साढ़ेसाती के मारे न जाने ऐसे कितने-कितने शिक्षक, कलाकार, साहित्यकार और समाजसेवी चुपके-चुपके आते रहते हैं, जो खुलेआम अपने को विद्रोही कहते हैं। यहाँ आकर स्वामीजी के चरणों में गिरकर मनोतियाँ मानते हैं। हम लोग तो प्रायः यहाँ चाय पीते हैं और इस प्रायोजित स्वामीजी की लीला देखते रहते हैं।” दूसरा युवक बोला।

चायवाला सुनता रहा। पास आकर धीरे से बोला—“आप जो कुछ कह रहे हैं, सही कह रहे हैं; लेकिन इतना तेज बोलकर हमें भी खतरे में डालेंगे और अपने को भी।”

“अरे हाँ रे, जिस तांत्रिक के चले मंत्री हों, सेठ हों, अफसर हों, पुलिस हो, मुस्टंडे साधु हों—उसके बारे में उसीके आसपास इतना तेज-तेज नहीं बोलना चाहिए।” युवक बोला।

“हाँ बाबू, मैंने देखा है विरोध का भाव लेकर आनेवालों को पिटते हुए।”

“चलो भाई, चलते हैं अब कॉलेज की ओर। कुछ पढ़ाई-लिखाई भी हो जाए।”

“अच्छा बाबू, आप लोगों ने बहुत कुछ ज्ञान दे दिया, अब मैं भी चलता हूँ। सोचा था, साढ़ेसाती का कोप दूर करने का कोई उपाय पूछूँगा; लेकिन यहाँ तो निस्तार ही नहीं है और मुझसे भी दुःखी लोग लाइन लगाए हुए हैं।”

“तुम्हें साढ़ेसाती है तो आओ मेरे साथ।” कहकर वे युवक आगे-आगे चलने लगे। वह भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। वे एक छोटे से मंदिर के पास जाकर रुके। पुजारी को देखते ही उन्होंने प्रणाम किया।

“कैसे हो, बाबू लोगो?”

“हम तो ठीक हैं, पंडितजी, लेकिन यह गरीब आदमी साढ़ेसाती का मारा हुआ है। इसे आपके पास लाए हैं। कोई उपाय बताइए। रोहित स्वामी से मिलने आया था, लेकिन आप तो जानते ही हैं……”

पुजारीजी हँसे और उस आदमी को बुलाकर कहा—“देखो भाई, साढ़ेसाती जाएगी तो अपने समय पर, लेकिन कुछ पूजा-पाठ करने से उसका प्रकोप कम हो सकता है।”

“जी पंडितजी!”

“तो ऐसा करो कि हर शनिवार को पीतल के लोटे से पीपल पर जल चढ़ाया करो।”

“पंडितजी, मेरे पास तो पीतल का लोटा भी नहीं है।”

पंडितजी मुसकराए, फिर ठठाकर हँसे।

“क्या बात है, पंडितजी, कोई गलती हो गई?”

“अरे नहीं रे! अरे बेवकूफ, जब तेरे पास पीतल का लोटा तक नहीं है तो तू क्यों डरता है? साढ़ेसाती तेरा क्या बिगाड़ लेगी? क्या छीन लेगी? अरे, ताल ठोककर शनिश्चर महाराज को ललकार दे—कर लो जो करना हो!”

दोनों युवक, पंडितजी तथा वह—सभी मुसकराने लगे। फिर एकाएक वह ठठाकर हँसा और चिल्लाकर बोला—“अरे ओ शनिचरा, तुझसे मैं बहुत डर लिया रे; अब आ जा, जो करना हो सो कर ले। तुझे ऐसी पटकी दूँगा कि तू भी याद रखेगा।”

वह हँसता हुआ और ‘शनिचरा, शनिचरा’ चिल्लाता हुआ रोहित स्वामी के आश्रम की ओर बढ़ने लगा।



एक सहपाठी दिल्ली में



जाड़े की शाम रात में बदल रही थी। मैं अपने कमरे में रजाई में दुबका हुआ कुछ पढ़ रहा था। दरवाजे पर खटखटाहट हुई।

“चले आइए, खुला है।”

एक आदमी अंदर आकर मेरे सामने खड़ा हो गया। जाड़े के कपड़ों से लैस था और कनटोप लगाए था। आते ही पूछा—“क्या आप मुझे पहचान रहे हैं?”

“हाँ भाई उमानाथ, पहचानूँगा क्यों नहीं? यद्यपि आपने इस मंकी कैप से अपनी इनसानी शक्ल छिपाने की बड़ी कोशिश की है; लेकिन……”

“लेकिन क्या?”

“लेकिन आपकी विशेष आँखों की पहचान कैसे छिप सकती है!”

“थैंक गॉड, आपने पहचाना तो। मैं तो समझा था कि दिल्ली में जो भी आता है, अपनी पहचान तो भूल ही जाता है, दूसरों को पहचानना भी भूल जाता है।”

“अरे बैठेंगे भी कि शिकायत ही करते रहेंगे। हाँ, यह हुई न बात! लेकिन बंधु, मेरे पास आते-ही-आते आपने दिल्ली का खटारा क्यों छेड़ दिया? दिल्ली इतनी बुरी तो नहीं है।”

“अरे तौबा कीजिए, भाई साहब! यह भी कोई शहर है, जहाँ आकर गाँव की माला जपनेवाले लोग अपना सारा अतीत ही भूल जाते हैं और गाँव की सारी धूल झाड़कर शहरी चिकनाई में नहाने लगते हैं।”

“अरे भाई, देखो तो कौन आया है!” मैंने पत्नी को पुकारकर कहा।

पत्नी शायद चौंके में थीं। आई।

“ओ हो, उमानाथ भाई, नमस्कार। कब आए?”

“अरे, यहाँ तो सभी लोग मुझे पहचानते जा रहे हैं। सोच रहा हूँ, आपका

२४ ❖ एक सहपाठी दिल्ली में

मकान दिल्ली में ही है या उससे बाहर।”

हम हँसे। पत्नी से कहा—“देखो, पहले उमानाथ को चाय पिलाओ। शायद ठंडक से इनकी अकल बौड़िया रही है। गरमी पाकर सहज होगी, तब बात होगी।”

फिर हँसी पड़ी।

पत्नी चाय लेकर आ गई, तब मैंने कहा—“हाँ, उमानाथ खाना भी हमारे साथ खाएँगे।”

“नहीं बंधुवर, खाना तो मुझे वहीं खाना है, जहाँ मैं ठहरा हुआ हूँ। वे लोग मेरा इंतजार करेंगे। भाभीजी, बैठिए। इतने दिनों बाद भेंट हुई है, कुछ बातचीत तो हो।”

पत्नी ने मेरी ओर देखा। “बैठ जाओ भाई, खाना खाने से मतलब है—चाहे यहाँ खाएँ, चाहे वहाँ।”

पत्नी बैठ गई। चायपान शुरू हुआ तो मैंने कहा—“हाँ, अब जबान कुछ सहज हुई होगी। बोलो, क्या बात हुई है दिल्ली के साथ कि इतने उद्विग्न हो उठे हो?”

“मत पूछो बंधु, मैं कवि-आलोचक सुकांतजी के यहाँ गया। मन में बड़ा हुलास था कि इतने दिनों बाद अपने सहपाठी मित्र से मुलाकात होगी, लेकिन……”

“लेकिन क्या?”

“मैं गया और कॉलबेल बजाई तो एक लड़की निकली। वह उनकी बेटा थी।

“‘सुकांतजी हैं?’ मैंने पूछा। उसने बहुत सकुचाते हुए कहा—‘देखती हूँ। आप कौन?’

“‘यदि हों तो कह दीजिए कि रामपुर से आपके सहपाठी दोस्त उमानाथ राय आए हैं।’

“वह चली गई तो मैंने सोचा कि यह कौन-सी भाषा है भाई—‘देखती हूँ’? ओरे या तो हैं या नहीं हैं। कौन-सा महल है कि उनके होने या न होने का पता नहीं है। मुझे लग गया कि सुकांतजी ने यह शैली सिखाई होगी।”

मुझे हँसी आ गई। बोला—“यह गृह-शैली तो सुकांतजी की साहित्य-शैली के अनुकूल ही है। इसमें आश्चर्य की क्या बात है?”

“हाँ, लेकिन जब पढ़ते थे तब तो वे इस शैली के नहीं थे। अभी-अभी उनका एक लेख पढ़ा था, जिसमें उन्होंने तुलसीदास को इसलिए विश्व का श्रेष्ठ

कवि माना है कि वे बहुत सहज कवि हैं। उनमें जीवन की सादगी एवं सहजता है। इसी क्रम में उन्होंने आधुनिक काल के कई ऐसे कवियों की प्रशंसा की है, जिनकी कविताओं में संवेदना और अभिव्यक्ति की सादगी तथा सहजता है।”

मैं मुसकराया।

“क्यों, मुसकरा क्यों रहे हो?”

“लगता है, तुमने इधर उनकी कविताएँ नहीं पढ़ीं।”

“नहीं, मैं इधर की कविताएँ पढ़ नहीं पाता। मुझे लगता है कि उनमें फँस गया हूँ और उनसे निकलने पर किसी तृप्ति का नहीं, मुक्ति का अहसास होता है।”

“तो जान लो कि सुकांतजी की कविताएँ इन्हीं कविताओं के बीच की हैं। चूँकि इधर के अच्छे कवियों में उनकी शुमार होती है, इसलिए यह भी कह सकते हो कि उनकी कविताएँ इन कविताओं की अग्रणी हैं—आदर्श भी।”

“लेकिन उन्होंने अपने उसी लेख में यह दावा किया है कि वे गाँव से आए गाँव के कवि हैं। इसलिए कविताओं में ठेठ ग्राम-जीवन की सादगी और खुरखुरापन उन्हें पसंद है।”

“हाँ, कहते तो वे यही हैं—खासकर जब उन्हें अपने इस गुणवाले कुछ खास कवियों के पक्ष में लिखना-बोलना होता है; किंतु अब वे ग्राम-मानसिकता के न कवि रहे, न व्यक्ति। उन्होंने तो अपनी कविताओं में आधुनिकतावाद के सारे जटिल मुहावरों को बटोरा है और गँवई रंग की कलई चढ़ाकर उन्हें ऐसा पेश किया है कि लोग समझते रहें कि इनकी मूल संवेदना क्या है! इससे उन्हें फिलहाल बहुत फायदा पहुँचा है। उनके समर्थक इन कविताओं में जो छवि चाहें, देख लेते हैं। जैसे चाहें, व्याख्या कर लेते हैं।”

“इनके समर्थक? कौन लोग हैं ये?”

“देखो, समर्थक होने के लिए जरूरी नहीं कि हमें किसीकी कोई चीज पसंद ही आए। यहाँ कुछ वैचारिक दल बने हुए हैं। उस दल के लोगों के लिए यह जरूरी हो जाता है कि अपने बीच के यशस्वी हो उठनेवाले व्यक्ति की हर बात की प्रशंसा करें—समझें या न समझें। दूसरी बात यह है कि सामान्यतः लोग उन लोगों से जुड़ना चाहते हैं जिनका पत्र-पत्रिकाओं, आलोचनाओं, पुरस्कार निर्णयों, सरकारी-अर्ध सरकारी साहित्यिक संस्थाओं में दलीय और निजी वर्चस्व हो। वह यह वर्चस्व साहित्यिक साधना से नहीं पाता। उसे अन्य प्रकार की कई साधनाएँ करनी पड़ती हैं। सुकांतजी ने इस प्रकार की लंबी साधना की है। नए लेखक भी उन्हींसे जुड़ते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि चर्चा यहीं जुड़ने से होगी, छोटे-मोटे

२६ ❖ एक सहपाठी दिल्ली में

पुरस्कार यहीं से प्राप्त होंगे। वे भी 'सुकांतजी, सुकांतजी' किए रहते हैं। वे अब लाभप्रद समीकरणों से मिलते हैं या अपने अनुयायियों को दर्शन देते हैं।"

"हाँ समझा, लेकिन पहले ही समझ गया होता तो उनके यहाँ जाता ही क्यों?"

"लीजिए, हम लोग तो सुकांतजी के साहित्य में उलझ गए, वह कहानी तो रह ही गई, जिसे तुम कह रहे थे।"

"अरे भाई, सुकांतजी के साहित्य में उलझने के सिवा और क्या हो सकता है?"

हम हँसे। मैं फिर बोला—"हाँ, सुनाओ यार!"

"तो सुनो, वह लड़की अंदर गई। शायद सुकांतजी अपने अध्ययन कक्ष में कुछ लिख-पढ़ रहे थे। वह बोली—"पापाजी, कोई उमानाथजी आए हैं।"

"कौन हैं, कहाँ से आए हैं?"

"रामपुर से आए हैं।"

"मैं इस नाम के किसी आदमी को नहीं जानता।"

"वे कहते हैं कि वे आपके सहपाठी हैं।"

"मेरे सहपाठी! अच्छा उन्हें बैठाओ, मैं आता हूँ।"

"क्या ये संवाद आप सुन रहे थे?" मैंने पूछा।

"हाँ, ड्राइंगरूम और उनके अध्ययन कक्ष के बीच एक झरोखा है। उसीमें से आवाज आ रही थी। और इतने बड़े साहित्यकार को क्या चिंता कि कोई उनकी बात सुन रहा है कि नहीं; और खासतौर पर जब कोई गाँव से आया हो तथा सामान्य व्यक्ति हो।"

"हाँ, तो फिर?"

"आधा घंटा बैठा रहा। बेटी चाय रख गई थी। पीने की इच्छा नहीं हो रही थी। फिर वे सज-धजकर निकले। अपनी याददाश्त पर जोर देते हुए बोले—'अच्छा-अच्छा, आप हैं उमानाथजी। मैं कहूँ कि कौन हैं रामपुर से। माफ करना भाई, एक जरूरी लेख लिख रहा था। इसे कल ही देना है। अभी पूरा नहीं हुआ है। छोड़कर आया हूँ।"

"ठीक है, ठीक भाई, आप इतने बड़े कि साहित्यकार हो गए हैं, व्यस्त तो होंगे ही। आपके हम सहपाठियों को गर्व है आप पर। वैसे कौन-सा लेख लिख रहे थे?"

"अरे, कुछ अच्छा-सा नाम है उसका। हाँ, याद आया—साहित्य और मनुष्यता।"

“ ‘हाँ, विषय तो बहुत अच्छा है। आपको याद है, सुकांत भाई, जब मैं आपको अपनी साइकिल के पीछे बैठाकर घुमाता था। कभी सिनेमा जा रहे हैं, कभी बाजार जा रहे हैं, कभी शहर से निकलकर प्रकृति के विस्तार में पहुँच जा रहे हैं। उन दिनों आपने प्रकृति पर कितनी सुंदर कविताएँ लिखी थीं!’

“ ‘अरे हाँ आँ आँ, अरे वे दिन अब कितने पीछे छूट गए! उन्हें याद करके क्या करेंगे?’

“मुझे लगने लगा था कि संवाद नहीं बन पा रहा है। लेकिन एकाएक उठ आना भी तो अभद्रता होती। इसलिए कुछ ऐसे ही सवालों के सहारे थोड़ा और बैठा रहा।

“बीच में एक फोन आ गया। वे उसे सुनने के लिए अपने अध्ययन कक्ष में गए। वहाँ से लौटे तो बोले—‘माफ करना, उमानाथ भाई, संपादक का फोन था। मुझे वह लेख पूरा करना है। फिर किसी दिन फुरसत में आइए तो ढेर सारी बातें करेंगे।’ वे उठ खड़े हुए।

“मुझे क्रोध आ गया। बोला—‘तो रामपुर से फुरसत में आपसे बात करने आऊँगा। आज आ गया, यही सबसे बड़ी गलती की।’

“मैं झटके से निकल आया और अनुताप में जलता हुआ एक पार्क में बैठ गया। कुछ देर तक वहाँ की हवा, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों से मौन संवाद करता रहा। धीरे-धीरे प्रकृतिस्थ हुआ तो सोचा, चलकर अब बस पकड़ूँ। स्टैंड पर खड़ा हो गया। थोड़ी देर बाद देखा कि सुकांतजी एक सुंदरी के साथ उसकी कार में बैठे हुए चले जा रहे हैं। हमारी नजरें मिलीं। मैं मुसकराया और सोचा, शायद अपना लेख पूरा करने जा रहे हैं।”

हम सभी ठठाकर हँस पड़े। हँसते रहे। हँसी थमी तो मैं बोला—“वाह उमानाथ भाई, क्या उनका लेख पूरा कराया है! दरअसल सुरा और सुंदरी—दो महती प्रेरणाएँ हैं साहित्य की। दोनों साथ मिल जाएँ तो महान् साहित्य बनने और लेख पूरा होने में कसर कैसे रह सकती है!”

“तभी-तभी।” पत्नी बोलीं।

“क्या तभी-तभी, भाभीजी?”

“तभी तुम्हारे ये भाई साहब बड़े साहित्यकार नहीं बन सके।”

“अरे भाभीजी, आप गलत कह रही हैं। भाई साहब का साहित्य श्रेष्ठ है, भले ही उसका डंका न बजाया गया हो।”

“लेकिन सुरा और सुंदरी?”

“इस रहस्य को रहस्य ही रहने दें तो बेहतर हो।” कहकर उमानाथ शरारत

२८ ❖ एक सहपाठी दिल्ली में

से मुसकराया और मैंने उसकी पीठ पर धौल जमाते हुए कहा—“साला इतने दिनों बाद मिला है, घर में झगड़ा कराने के लिए!”

“अच्छा भाई राहुल, यह तो बताओ कि सुकांतजी के साथ सुंदरी कौन थीं?”

“अरे भाई, अब मुझे क्या पता कि कौन-सी थी!”

एक अट्टहास पड़ा।

“अच्छा भाई, तुम्हारे साथ बैठकर कितना अच्छा लगा! लगा कि हम कुछ देर के लिए अपने उन बीते प्यारे दिनों में लौट गए हैं। अब चलते हैं, दोस्त! पता नहीं फिर कब मिलना हो! मिलना भी हो कि नहीं!”

जाते-जाते उमानाथ मुझे आर्द्र कर गया। वह जा रहा था और मैं भीगी आँखों से उसको जाता देख रहा था।



प्रपंच : पाँच कहानियाँ



१. राजा गार्डन जाना है

उस दिन पत्नी घर आई तो बड़ी विह्वल थीं और आते ही अपना दर्द मुझमें उड़ेल दिया। बोलीं—“कैसे-कैसे लोग होते हैं!”

“कैसे-कैसे?” मैंने पूछा।

“अरे, दया-धरम लोगों में रह ही नहीं गया है। शहर में लोग यांत्रिक हो गए हैं।”

“यानी?”

“अब देखिए न, आज मैं धौला कुआँ से आ रही थी तो स्टैंड पर एक लाचार बूढ़ा आदमी वहाँ भटक रहा था। लोगों से कुछ पूछ रहा था, किंतु लोग या तो मुँह फेर ले रहे थे या झटके से किसी ओर हाथ उठाकर दिखा दे रहे थे और वहाँ से सरक जाते थे। मैं काफी देर से यह दृश्य देख रही थी और देख रही थी उस बूढ़े के चेहरे पर बदहवासी। मैं उसके पास पहुँच गई और पूछा—‘क्या है, बाबा?’

“‘बेटा, मुझे राजा गार्डन जाना है। लोगों से पूछ रहा हूँ कि वहाँ किस रास्ते से जाऊँ, लेकिन कोई ठीक से बताता ही नहीं। मैं गाँव से आया हूँ; मुझे रास्तों का पता नहीं।’

“मैंने कहा—‘बाबा, यह रिंग रोड है, यह सड़क सीधे राजा गार्डन चली जाएगी; लेकिन वह तो बहुत दूर है, पैदल कैसे जाइएगा?’

“‘चला जाऊँगा बेटे, सुस्ताता-सुस्ताता।’

“मुझे बड़ा दर्द लगा। और यह भी लगा कि कोई स्वाभिमानी आदमी है, हाथ नहीं फैला रहा है। मैंने कहा—‘बाबा, आप पैदल मत जाइए। बुरा न मानें तो ये पाँच रुपए रख लें, बस का टिकट ले लीजिएगा।’

३० ❖ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

“ ‘अरे नहीं बेटे, मैं पैदल चला जाऊँगा। हम देहातियों को पैदल चलने की आदत है।’

“ ‘नहीं बाबा, आप बस से चले जाइए, काफी दूर है, आप थक जाएँगे।’

“मेरी बस आ गई और मैं झटके से उसपर चढ़कर चली आई। क्या समय आ गया है कि लोग अब जरूरतमंदों की भी सहायता नहीं करते।” वे फिर अपने काम में लग गई।

मुझे भी बड़ा सुख मिला।

वैसे पत्नी ऐसे सुख तो मुझे प्रायः देती रहती हैं।

दो दिन बाद मैं घर आया तो पत्नी से पूछा—“आपने जिस बूढ़े का जिक्र किया था उसका हुलिया यह तो नहीं था?” और मैंने उसका हुलिया बता दिया।

“हाँ-हाँ, बिल्कुल यही हुलिया था। क्यों, क्या हुआ?”

“आज मैंने उसे धौला कुआँ के स्टैंड पर उसी तरह राजा गार्डन का पता पूछते देखा था।”

पत्नी का चेहरा फक पड़ गया। बोलीं—“हे राम, अब किसी पर कोई कैसे विश्वास करे? इस तरह तो किसीकी मदद करने की इच्छा ही मर जाएगी।”

२. अध्यात्मवाद

दोपहर को एक अधेड़ सज्जन मेरे कमरे में दाखिल हुए। धोती-कुरता में थे। हाथ में हिंदी की एक पत्रिका थी। देखने में बहुत संभ्रांत लग रहे थे।

अपना परिचय देते हुए कहा—“मुझे रामनारायण मिश्र कहते हैं। मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय में दर्शन विभाग में प्रोफेसर था। आपके साहित्य का पाठक हूँ। बहुत दिनों से मिलने की इच्छा थी।”

“आभारी हूँ। आप आए, बहुत अच्छा लगा।”

“यह तो आपका बड़प्पन है, राघवजी, नहीं तो दिल्ली में कौन किसे देखकर खुश होता है!”

और उन्होंने दो-तीन साहित्यकारों को हिकारत के साथ याद करते हुए कहा—“इनके यहाँ भी गया था, लेकिन इन्होंने सीधे मुँह बात नहीं की।”

फिर वे उनके साहित्य की निंदा करते हुए मेरे साहित्य की प्रशंसा करने लगे।

मैंने उन्हें चाय पिलाई। वे कुछ आश्चस्त हुए तो धीरे-धीरे अपनी कहानी शुरू की—

“मेरे दो बेटे अहमदाबाद में डॉक्टर हैं। उनसे मिलने गया था। वहाँ से आ रहा था तो एक सहयात्री से काफी घनिष्ठता हो गई। वह भी दिल्ली आ रहा था। और जब दिल्ली में मेरी आँखें खुलीं तो देखा, वह व्यक्ति कहीं बीच में उतर गया था और मेरे सामान को भी अपना बना गया था।”

इतना कहकर वे चुप हो गए और मैंने सहानुभूति जताई तो जोर से हँसे; जैसे वे अपना दर्द हँसी में उड़ा रहे हों।

“अरे, जिसके भाग्य में जो होता है, उसे मिल जाता है। उसके भाग्य में था, ले गया।” वे फिर हँसने लगे और फिर मैं भी हँसने लगा। पत्नी भी हँसने लगी। पुत्री आ गई थी, वह भी हँसने लगी।

“अब भाग्य देखिए, कमलापति त्रिपाठी के यहाँ गया, वे नहीं मिले। सुधाकर पांडे के यहाँ गया, वे नहीं मिले।”

अब बात कुछ मेरी समझ में आ रही थी।

“अपने परिचय के इस एम.पी. के पास गया, उस एम.पी. के पास गया; लेकिन संयोग देखिए, कोई नहीं मिला। आज ही बनारस लौटना था। सोचा, जब लौटना नहीं हो पा रहा है तो आप लोगों से मिल ही लूँ।”

“यह तो आपकी कृपा है।” कहकर मैंने कई-कई साहित्यकारों की बात छेड़ दी और वे सबके बारे में विस्तार से बताते रहे। जब मैंने कहा कि आपके नाम के तो एक प्रसिद्ध साहित्यकार हिंदी में हुए हैं, तो उन्होंने कहा—“हाँ भाई, नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना भी तो उन्होंने ही की थी।”

“अब तो राघवजी, रिटायर हो चुका हूँ और सारे पारिवारिक दायित्वों से मुक्त हूँ, इसलिए बनारस में और कभी-कभी दिल्ली में अध्यात्मवाद करने की इच्छा है।”

मैं सोचने लगा कि हम लोगों के होते हुए भी यह विद्वान् सभ्य व्यक्ति अपने घर नहीं जा सकेगा तो हमारे होने को धिक्कार है न! और सबसे बड़ी बात तो यह है कि इस व्यक्ति ने अपने मुँह से माँगा नहीं।

“मिश्रजी, बनारस का किराया कितना है?”

“क्यों?”

“अरे क्यों क्या, आप अपने घर नहीं जाइएगा?”

वे मुसकराए और बोले—“अरे यही साठ-पैंसठ रुपए है।”

मैं अंदर गया और पत्नी को भी इशारा किया। पुत्री भी आ गई। मैंने पत्नी

३२ ♦ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

से कहा—“सत्तर रुपए निकालकर इन्हें दे दो।” पुत्री ने कहा—“अरे पापा, सभ्य व्यक्ति हैं, सौ रुपए दीजिए। आखिर रास्ते में कुछ खाएँगे-पिएँगे, रिक्शे-विकशे का किराया लगेगा।”

“हाँ, ठीक कहती हो।”

जब मैंने मिश्रजी को सौ रुपए दिए तो उन्होंने तीस रुपए वापस करते हुए कहा—“नहीं, सत्तर रुपए में मेरा काम चल जाएगा और अब आज्ञा दीजिए।”

“अरे, खाना तो खा लीजिए, भोजन का समय हो गया है।”

“नहीं, आपने मेरा काम आसान कर दिया, यही मेरे लिए बहुत है; और आप बनारस आएँ तो कृपया दर्शन जरूर दें, बल्कि मेरे यहाँ ठहरें।” और उन्होंने वहाँ का पता बता दिया।

फिर बोले—“ये रुपए मैं उधार ले जा रहा हूँ, मैं समर्थ व्यक्ति हूँ।” वे झटके से उठे और तीर की तरह सड़क पर निकल गए।

मैं सोचने लगा कि इन्होंने केवल किराए के ही पैसे क्यों लिये? बाकी का काम कैसे चलेगा? और पैसे पाते ही तीर की तरह क्यों निकल गए? आखिर खाना खाने में इन्हें आपत्ति क्यों हुई? मैं ज्यों-ज्यों सोचने लगा, एक संदेह उत्पन्न होता गया।

फिर कई मित्रों से ज्ञात हुआ कि वे उनके यहाँ भी गए थे और अभी दिल्ली में ही हैं। सबके यहाँ जाकर वे वही कहानी सुनाते हैं और अध्यात्मवाद करने की बात कहते हैं।

मैं बनारस गया तो सोचा, उनके द्वारा बताए गए पते पर एक बार हो ही लूँ। ज्ञात हुआ कि वैसा कोई पता ही नहीं है।

और फिर वही तकलीफ कि अब कोई सचमुच का जरूरतमंद व्यक्ति आ जाएगा तो उसके साथ क्या सलूक होगा?

और एक दिन ज्ञात हुआ कि मेरे पड़ोसी प्रोफेसर (जिससे वे कहीं दोबारा टकरा गए थे) ने उनकी अच्छी धुनाई कर दी है और पीटते हुए कहते रहे—“ले, कर ले अध्यात्मवाद! साला, दार्शनिक और साहित्यकार का चोगा पहनकर ठगी करता घूम रहा है।”

मुझे राहत मिली। फिर भी न जाने क्यों, उस व्यक्ति का भोलाभाला चेहरा और साहित्यिक वार्तालाप मेरे मन में उतरता रहा और सवाल चलता रहा—आखिर सच क्या है?

३. नेमप्लेट

कॉलबेल बजी। मैं निकला।

“कहिए, किससे मिलना है?”

“क्या डॉक्टर समीर यहाँ रहते हैं?”

“हाँ, रहते हैं और आपके सामने खड़े हैं।”

“नमस्कार! मेरा खयाल है कि आप ही वह समीरजी हैं, जिनकी कविताएँ, कहानियाँ मैं पत्रिकाओं में पढ़ता रहता हूँ।”

“हाँ, कुछ लिखता-विखता तो हूँ। आइए, मैंने आपको पहचाना नहीं!”

“मैं आपसे अपरिचित हूँ, लेकिन मैंने आपको खूब जाना है, आपके पूरे परिवेश को जाना है। इधर से गुजर रहा था, आपकी नेमप्लेट देखकर रुक गया और एक अद्भुत आह्लाद से भर उठा, यह जानकर कि मेरा प्रिय लेखक मुझे इस तरह अनायास ही मिल गया।” और उन्होंने मेरी तमाम रचनाओं का जिक्र छेड़ दिया।

“अरे बस कीजिए। आपको मेरी रचनाएँ इतनी अच्छी लगती हैं, यह मेरा परम सौभाग्य है; किंतु कुछ अपने बारे में तो बताइए।”

“मैं, अरे मैं क्या हूँ! पंकज सोसायटी में मेरी बहन ब्याही हुई है। इधर से गुजर रहा था कि आपकी नेमप्लेट दिखाई पड़ गई।”

“सो तो ठीक है, लेकिन अपने बारे में कुछ और बताइए।”

“कुछ बताने लायक हो तो बताऊँ; वैसे मेरा नाम कुमार शिव है। मुंबई में रहता हूँ। दूरदर्शन के लिए कुछ धारावाहिक बनाए हैं। गाँव पर आधारित एक उपन्यास पर एक धारावाहिक बनाने का मन था और काफी दिनों से आपका उपन्यास ‘मिट्टी की आवाज’ मेरे मन में गूँज रहा था। सोचा था, आपसे बात करूँगा, लेकिन बात टलती रही। आज देखिए, कैसे इस नेमप्लेट ने यहाँ खींच लिया।”

हम चाय पी चुके। धारावाहिक की बातचीत भी हो गई तो मैं जोर से हँसा। कुमार शिव चौंके और पत्नी भी।

“क्यों, क्या हो गया, समीरजी?” कुमार शिवजी ने मुसकराकर पूछा।

“नेमप्लेट।”

“नेमप्लेट क्या?”

३४ ❖ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

“इसकी एक कहानी है।” कहकर मैंने पत्नी की ओर देखा। पत्नी मुसकरा रही थी। वे फिर अंदर चली गई।

“क्या कहानी है, मुझे भी सुनाएँगे?”

“हाँ तो सुनिए—उस दिन कॉलेज से घर पहुँचा ही था कि पत्नी ने तपाक से पूछा—‘आपने किसी महिला को यहाँ भेजा था?’

“‘नहीं तो?’

“‘हे राम!’

“‘क्या हुआ?’

“‘हुआ तो नहीं, लेकिन हो सकता था।’ मैंने देखा, उनके चेहरे पर एक प्रत्याशित भय की छाया घिर आई थी।

“‘बताओ तो सही।’

“‘बताऊँगी। पहले आप खा-पी लीजिए।’

“‘अरे ऐसे में खाया-पिया जाएगा क्या? क्या कोई लंबी कथा है?’

“‘नहीं, कथा तो कुछ भी नहीं है, लेकिन होती तो न जाने कितनी लंबी हो जाती। यह तो ईश्वर की कृपा है कि समय से मेरी तीसरी आँख खुल जाती है। अच्छा, चाय तो पीजिए, फिर बताती हूँ।’

“‘मैं चाय पीने लगा तो वे बोलीं—‘दो घंटा पहले एक युवती आई थी—बड़ी सुंदर—सी और सजी-धजी। आँखों पर बड़ा-सा गॉगल, हाथ में आकर्षक पर्स, कीमती साड़ी, बड़ा-सा जूड़ा। आते ही पूछा—‘साहब हैं?’ ‘कौन साहब?’ मैंने पूछा। उसने फट से कहा, ‘डॉ. समीर साहब।’ मैंने कहा—‘नहीं, वे तो कॉलेज में हैं। एक बजे आएँगे।’ ‘अरे, मुझे तो कॉलेज में ही मिले थे। मुझसे कहा था कि घर चलो, मैं भी थोड़ी देर में पहुँचता हूँ। अभी तक नहीं आए? चलो इंतजार कर लेते हैं।’

“‘ठीक है, इंतजार कर लीजिए।’ कहकर ड्राइंगरूम खोलने के लिए मैं अंदर आई कि मेरी तीसरी आँख झपकने लगी। इसे कभी देखा नहीं और आज उनका आखिरी पीरियड एक बजे खत्म होता है, वे डेढ़ तक घर आ जाते हैं। आज ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे ही कैसे आ जाएँगे; और यदि यह उनसे वहाँ मिल चुकी है तो यहाँ क्या करने आई? इसके हावभाव देखते हुए यह भी नहीं लगता कि यह साहित्यकार या उनकी छात्रा होगी।’

“‘तब?’

“‘तब मैं ग्लास में पानी लेकर बाहर गई और उससे बोली—‘माफ कीजिएगा, घर में बहुत से काम हैं, मैं आपके साथ नहीं बैठ सकती। आप यहीं

बरामदे में बैठकर उनकी प्रतीक्षा कीजिए।' अंदर आकर मैं काम में व्यस्त हो गई। फिर एकाएक खयाल आया कि उसे चाय तो पिलाई ही नहीं, अकेले उसे बाहर बैठा दिया है; कहीं सचमुच आपकी कुछ लगती हो तो बुरा मान जाएँगे।'

“ ‘क्यों नहीं, क्यों नहीं! सारी सुंदर लड़कियाँ मेरी कुछ-न-कुछ तो लगती ही हैं न। आखिर सौंदर्य-प्रेमी कवि जो ठहरा!’ मैं मुसकराया। वे भी मुसकराई।

“ ‘हाँ फिर?’

“ ‘अरे मैं चाय लेकर पहुँची तो वह जा चुकी थी। फिर मैं तो अंदर आकर इस भय से काँपने लगी कि यदि वह अंदर आ गई होती तो क्या होता!’

“ ‘क्या होता! क्या वह तुमपर भारी पड़ जाती?’

“ ‘भारी तो नहीं पड़ती, लेकिन यह निश्चित है कि उसके पर्स में कोई हथियार होता। मैं काम कर रही होती और वह पीछे से आकर मेरे सिर पर पिस्तौल तान देती और कहती—जो कुछ है, निकाल दे चुपचाप। शोर किया तो भेजा तोड़ दूँगी।’

“ ‘तो कह देतीं कि हमारे यहाँ तो पुस्तकें हैं, ले जाओ; और कुछ नहीं है।’

“ ‘हाँ, और वह मान जाती। एक प्रोफेसर की बीवी के पास गहने नहीं होंगे, इनके घर में कुछ रुपए नहीं होंगे, इस बात का वह सहज ही विश्वास कर लेती? क्यों, है न?’

“ इस प्रश्न के आगे मैं क्षण-भर के लिए हतप्रभ रह गया। पत्नी ने सहज भाव से कहा, किंतु मुझे अपनी असमर्थता का बोध साल गया। फिर बोला— ‘अरे, अब वह खोजती और नहीं पाती तो विश्वास करना ही पड़ता।’

“ ‘खोजती तो बाद में, पहले तो वह मेरा कुछ कर बैठती।’

“ इस आशंका से मैं बुरी तरह हिल गया। सचमुच ही कहीं कुछ हो गया होता तो! मैं बोला, ‘लेकिन वह मेरा नाम कैसे जानती थी?’

“ ‘हाँ, मुझे भी यह बात परेशान करती रही, किंतु मैं समझ गई। मैंने जैसे ही पूछा कि कौन से साहब? उसकी निगाह आपकी नेमप्लेट पर पड़ी और उसे पढ़कर फटाक से बोल पड़ी—समीर साहब।’

“ ‘ओह, यह बात तो मेरे ध्यान में ही नहीं आई। तो सारी फसाद की जड़ यह नेमप्लेट है। इसे अभी उतार फेंकता हूँ। इस नाम से तो अच्छा है गुमनाम रहना।’

“ पत्नी ने रोकते हुए कहा— ‘अरे आप भी किस उत्तेजना में आ गए, एक

३४ ♦ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

“इसकी एक कहानी है।” कहकर मैंने पत्नी की ओर देखा। पत्नी मुसकरा रही थीं। वे फिर अंदर चली गईं।

“क्या कहानी है, मुझे भी सुनाएँगे?”

“हाँ तो सुनिए—उस दिन कॉलेज से घर पहुँचा ही था कि पत्नी ने तपाक से पूछा—‘आपने किसी महिला को यहाँ भेजा था?’

“‘नहीं तो?’

“‘हे राम!’

“‘क्या हुआ?’

“‘हुआ तो नहीं, लेकिन हो सकता था।’ मैंने देखा, उनके चेहरे पर एक प्रत्याशित भय की छाया घिर आई थी।

“‘बताओ तो सही।’

“‘बताऊँगी। पहले आप खा-पी लीजिए।’

“‘अरे ऐसे में खाया-पिया जाएगा क्या? क्या कोई लंबी कथा है?’

“‘नहीं, कथा तो कुछ भी नहीं है, लेकिन होती तो न जाने कितनी लंबी हो जाती। यह तो ईश्वर की कृपा है कि समय से मेरी तीसरी आँख खुल जाती है। अच्छा, चाय तो पीजिए, फिर बताती हूँ।’

“‘मैं चाय पीने लगा तो वे बोलीं—‘दो घंटा पहले एक युवती आई थी—बड़ी सुंदर—सी और सजी-धजी। आँखों पर बड़ा-सा गॉगल, हाथ में आकर्षक पर्स, कीमती साड़ी, बड़ा-सा जूड़ा। आते ही पूछा—‘साहब हैं?’ ‘कौन साहब?’ मैंने पूछा। उसने फट से कहा, ‘डॉ. समीर साहब।’ मैंने कहा—‘नहीं, वे तो कॉलेज में हैं। एक बजे आएँगे।’ ‘अरे, मुझे तो कॉलेज में ही मिले थे। मुझसे कहा था कि घर चलो, मैं भी थोड़ी देर में पहुँचता हूँ। अभी तक नहीं आए? चलो इंतजार कर लेते हैं।’

“‘ठीक है, इंतजार कर लीजिए।’ कहकर ड्राइंगरूम खोलने के लिए मैं अंदर आई कि मेरी तीसरी आँख झपकने लगी। इसे कभी देखा नहीं और आज उनका आखिरी पीरियड एक बजे खत्म होता है, वे डेढ़ तक घर आ जाते हैं। आज ग्यारह-साढ़े ग्यारह बजे ही कैसे आ जाएँगे; और यदि यह उनसे वहाँ मिल चुकी है तो यहाँ क्या करने आई? इसके हावभाव देखते हुए यह भी नहीं लगता कि यह साहित्यकार या उनकी छात्रा होगी।’

“‘तब?’

“‘तब मैं ग्लास में पानी लेकर बाहर गई और उससे बोली—‘माफ कीजिएगा, घर में बहुत से काम हैं, मैं आपके साथ नहीं बैठ सकती। आप यहीं

बरामदे में बैठकर उनकी प्रतीक्षा कीजिए।' अंदर आकर मैं काम में व्यस्त हो गई। फिर एकाएक खयाल आया कि उसे चाय तो पिलाई ही नहीं, अकेले उसे बाहर बैठा दिया है; कहीं सचमुच आपकी कुछ लगती हो तो बुरा मान जाएँगे।'

“ ‘क्यों नहीं, क्यों नहीं! सारी सुंदर लड़कियाँ मेरी कुछ-न-कुछ तो लगती ही हैं न। आखिर सौंदर्य-प्रेमी कवि जो ठहरा!’ मैं मुसकराया। वे भी मुसकराई।

“ ‘हाँ फिर?’

“ ‘अरे मैं चाय लेकर पहुँची तो वह जा चुकी थी। फिर मैं तो अंदर आकर इस भय से काँपने लगी कि यदि वह अंदर आ गई होती तो क्या होता!’

“ ‘क्या होता! क्या वह तुमपर भारी पड़ जाती?’

“ ‘भारी तो नहीं पड़ती, लेकिन यह निश्चित है कि उसके पर्स में कोई हथियार होता। मैं काम कर रही होती और वह पीछे से आकर मेरे सिर पर पिस्तौल तान देती और कहती—जो कुछ है, निकाल दे चुपचाप। शोर किया तो भेजा तोड़ दूँगी।’

“ ‘तो कह देतीं कि हमारे यहाँ तो पुस्तकें हैं, ले जाओ: और कुछ नहीं है।’

“ ‘हाँ, और वह मान जाती। एक प्रोफेसर की बीवी के पास गहने नहीं होंगे, इनके घर में कुछ रुपए नहीं होंगे, इस बात का वह सहज ही विश्वास कर लेती? क्यों, है न?’

“ इस प्रश्न के आगे मैं क्षण-भर के लिए हतप्रभ रह गया। पत्नी ने सहज भाव से कहा, किंतु मुझे अपनी असमर्थता का बोध साल गया। फिर बोला— ‘अरे, अब वह खोजती और नहीं पाती तो विश्वास करना ही पड़ता।’

“ ‘खोजती तो बाद में, पहले तो वह मेरा कुछ कर बैठती।’

“ इस आशंका से मैं बुरी तरह हिल गया। सचमुच ही कहीं कुछ हो गया होता तो! मैं बोला, ‘लेकिन वह मेरा नाम कैसे जानती थी?’

“ ‘हाँ, मुझे भी यह बात परेशान करती रही, किंतु मैं समझ गई। मैंने जैसे ही पूछा कि कौन से साहब? उसकी निगाह आपकी नेमप्लेट पर पड़ी और उसे पढ़कर फटाक से बोल पड़ी—समीर साहब।’

“ ‘ओह, यह बात तो मेरे ध्यान में ही नहीं आई। तो सारी फसाद की जड़ यह नेमप्लेट है। इसे अभी उतार फेंकता हूँ। इस नाम से तो अच्छा है गुमनाम रहना।’

“ पत्नी ने रोकते हुए कहा—‘अरे आप भी किस उत्तेजना में आ गए, एक

३६ ♦ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

ठग औरत के कारण वह नेमप्लेट आपको अवांछित लगने लगी। यह भी तो सोचिए कि कितने-कितने अजनबी लोग चलते-चलते आपकी नेमप्लेट पढ़कर रुक जाते हैं और कहते हैं—अरे यह तो लेखक समीर का घर है। वे यहाँ रहते हैं ? और वे रुककर आपसे मिलते हैं और आपको कितना सुख मिलता है, कुछ नई पहचानें बनती हैं, कुछ पुरानी पहचानें नई हो उठती हैं।’

“ ‘तुम्हारी तीसरी आँख फिर खुल गई।’ कहकर मैं हँसा और बोला, ‘चलो, खाना खा लें।’ ”

कहानी खत्म होते ही हम ठठाकर हँसने लगे।

४. वह औरत

“भाई साहब, देखिए तो यह भीड़ कैसी है ?” साथ चलते-चलते मेरे सहकर्मी डॉ. उपाध्याय ने कहा।

भीड़ के पास जाकर देखा, फटेहाल-सी एक अधेड़ स्त्री बीच रास्ते में लेटी पड़ी थी, बेहोश-सी। लोग घेरकर तरह-तरह की बातें कर रहे थे।

“अरे भाई, आप लोग घेरे खड़े हैं, कुछ करते क्यों नहीं ?” उपाध्यायजी ने कहा।

“क्या कर सकते हैं हम लोग ?”

“अरे, इसे उठाकर डॉक्टर के पास ले चलें या कम-से-कम इस पास के घर में से पानी ले आओ, इसके मुँह पर छींटे मारो।”

“छींटे तो मार सकते हैं, लेकिन डॉक्टर के पास कैसे ले जा सकते हैं ? ये औरतें उठाकर ले चलें तो ले चलें, हम लोग कैसे उठा सकते हैं ?” और पता नहीं साहब, यह कौन है ? किस हालत में है ? कहीं मर-मरा जाए और हम बेकार में पुलिस के चंगुल में आ जाएँ !”

तब तक पास के घर की एक औरत पानी ले आई और उसके मुँह पर छींटे मारने लगी। थोड़ी देर तक तो वह हिली-डुली नहीं, लेकिन पानी की लगातार फुहार से वह कुछ अकुलाती-सी लगी और आँखें खोल दीं। फिर बोली—“मैं कहाँ हूँ ?”

दो-तीन औरतों ने मिलकर उसे उठाया और वह बदहवास-सी चारों ओर देखने लगी।

“मैं कहाँ हूँ?”

“तुम सड़क पर हो। रास्ते में गिरकर बेहोश हो गई थीं। कहाँ रहती हो, कहाँ जाओगी?” कई आवाजें एक साथ पूछने लगीं।

वह खामोश की खामोश रही। खोई-खोई नजरों से इधर-उधर देखती रही। लोग कह रहे थे—“लगता है, इसे कोई भारी सदमा पहुँचा है।”

बहुत देर बाद उसने बताया कि वह पटेल नगर में रहती है।

“इधर कैसे आ गई थीं?”

“इधर? कौन-सी जगह है यह?”

“यह उत्तम नगर है।”

“उत्तम नगर” “उत्तम नगर,” वह बुदबुदाई।

“हाँ, उत्तम नगर है, यहाँ कैसे आ गई?”

“मेरा बेटा बीमार है, दीनदयाल अस्पताल में पड़ा है। वहीं से आ रही थी, खून देना पड़ा है।”

“अरे तो पटेल नगर जाने की जगह उत्तम नगर कैसे आ गई?”

“यह तो मुझे भी पता नहीं। इधर आनेवाली बस को उधर जानेवाली बस समझ बैठी।”

“तो रास्ते में तुम्हें मालूम नहीं हुआ कि कहाँ जा रही हो?”

“खून देने के बाद इतनी थक गई थी कि बस में आँखें मुँदी ही रह गई। उत्तम नगर आया तो किसीने झकझोरकर जगाया—‘अरे, उतरना नहीं है?’

“जब उतरी तो मालूम हुआ कि यह तो उत्तम नगर है। अब तो पास में पैसे भी नहीं थे। इसी गली में एक बार आई थी। मेरे मामा का लड़का एक दुकान पर काम करता था। सोचा, शायद मिल जाए तो उससे कुछ पैसे लेकर घर लौट जाऊँ। फिर न जाने क्या हुआ कि यहाँ गिर पड़ी।”

“उसका कुछ ठीक अता-पता नहीं है क्या?”

“नहीं। पता नहीं यह गली वही है कि कोई दूसरी। अब तो यहाँ काफी कुछ बदल गया है।”

“ठीक है, अब तुम अपने घर जाओ।” लोगों की मानवीयता जाग उठी। अठन्नी, चवन्नी, रुपया जेबों से निकलने लगे और डॉ. उपाध्याय ने दो रुपए फेंक दिए। उन्होंने मेरी ओर देखा—मैं निश्चल खड़ा था। उन्हें शायद आश्चर्य हुआ।

“चलिए।” मैंने उपाध्याय को ठेलते हुए कहा।

साथ चलते हुए वे बोले—“आश्चर्य है, भाई साहब, आपके हाथ जेब में नहीं गए और आपकी मनुष्यता इस दृश्य के सामने अविचलित खड़ी रही!”

३८ ❖ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

“नाटक को नाटक की तरह ही देखना चाहिए।”

“नाटक?”

“हाँ, नाटक।”

“आप इसे नाटक कैसे कह सकते हैं?”

“क्योंकि यह कई बार हो चुका है। यदि मैं भूलता नहीं तो यह वही औरत है।”

“कौन-सी औरत?”

“जैसी मेरे बेटे ने बताई थी।”

“जरा खुलासा कीजिए।”

“मेरा बेटा मयंक ठीक ऐसे ही एक दृश्य के सामने हो गया था। तब हम शक्ति नगर में थे। उसने औरत का जो हुलिया बताया था, वह इस औरत से मिलता-जुलता था। वह भी पटेल नगर की ही थी। आप जिस बिंदु पर इस दृश्य को छोड़कर आए हैं, उस बिंदु के आगे की कहानी सुनिए। मयंक में समाज-सेवा का भाव बहुत है, तब भी था। तब वह सोलह साल का रहा होगा। जब उस औरत के लिए पैसे एकत्र हो गए तो मयंक ने कहा—‘तुम मेरे स्कूटर पर बैठ सको तो मैं तुम्हें पटेल नगर छोड़ आऊँ।’

“‘अरे बेटा, बैठ तो सकती हूँ, लेकिन तुम काहे को तकलीफ करोगे?’ कहती हुई वह उठ खड़ी हुई।

“‘तकलीफ काहे की, चलो बैठो।’

“जब मयंक पटेल नगर पहुँचा तो उस महिला ने एक गली में ले जाकर कहा—‘बस यहीं छोड़ दो। घर के पास ले जाओगे तो पड़ोसी कहेंगे—अरे पता नहीं यह किस-किसके साथ घूमती रहती है। मेरी बदनामी होगी।’

“गली में उतरकर उसने कहा—‘ए लड़के, तेरे पास जो कुछ हो, दे दे; नहीं तो मैं शोर मचाऊँगी कि यह लड़का मेरी इज्जत लूटने की कोशिश कर रहा था।’

“मयंक तो हैरान रह गया। उसने देखा कि उसकी दयनीय आवाज खूब कड़क हो गई है।

“‘अरे तुम यह क्या कह रही हो, तुम मेरी माँ की तरह हो। ऐसे गंदे शब्द क्यों मुँह से निकाल रही हो?’

“‘रुपए निकाल रहे हो कि चिल्लाऊँ?’

“पराया मोहल्ला, अजनबी लोग और किशोर मयंक...। बेचारा रुआँसा हो गया। संयोग था कि पुलिस के दो सिपाही कहीं से आ गए। उन्होंने यह दृश्य

देखा, कुछ समझा। पूछा—‘क्या है?’

“मयंक ने रुआँसी आवाज में कुछ बताया। सिपाही हँसे। एक बोला—
‘तुम जाओ बेटे! इस सस्ली को तो हम समझते हैं।’

“उन्होंने दो डंडे उस औरत की पीठ पर मारे—‘हरामजादी, अब तू यहाँ तक गिर गई है कि बेटे-पोतों जैसे लड़कों पर कुकर्म का इलजाम लगा रही है।’

“वे उसे पकड़कर ले गए और मयंक बेचारा हाँफता-हाँफता घर आया।”

“हाँ, है तो बड़ी विचित्र बात। लेकिन हो सकता है, यह औरत कोई और हो।”

“हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। अब तो होने और न होने की भेदक रेखा गायब हो गई है।”

रात को सोया तो फिर वह दृश्य सामने आ गया। सवाल होने लगा कि हो सकता है, वह औरत कोई और रही हो। क्या एक धोखे के कारण किसी भी मानवीय सहायता से असंपृक्त हो जाना चाहिए?

गेट खड़का।

“कौन?”

“मैं हूँ पापा, मयंक!”

“बेटे, इतनी देर से क्यों आ रहे हो?”

“क्या बताऊँ पापा, एक आदमी सड़क पर गिरा पड़ा था। शायद कोई सवारी उसे धक्का मार गई थी। अपने मित्रों के साथ उसे अस्पताल पहुँचाने चला गया था।”

मैं मुसकराकर उसे देखने लगा और वह आश्वस्त भाव से अपने कमरे में चला गया।

५. तीसरी आँख

उस दिन मैं अपने मित्र ज्ञान प्रकाश के यहाँ बैठा रहा। खाता-पीता रहा। कविताओं का दौर चलता रहा। जब मैं इस शहर में आता था तो प्रायः मेरा समय ज्ञान प्रकाश के यहाँ इसी प्रकार बीतता था। पत्नी भी कभी-कभी साथ होती थीं। इस शहर में मेरी ससुराल थी, अतः हम प्रायः यहाँ आते ही रहते थे। यों तो मैं भी इसी जिले का हूँ, लेकिन मेरा घर गाँव में पड़ता है।

४० ❖ प्रपंच : पाँच कहानियाँ

उस दिन जब ज्ञान प्रकाश के यहाँ से घर पहुँचा तो पत्नी बहुत घबराई हुई लगी।

“क्या बात है?”

“क्या आपने अपने गाँव के किसी आदमी को भेजा था?”

“किसलिए?”

“जेठानीजी के गहने के लिए?”

“नहीं तो।”

“हे भगवान्, आज तो लुट ही गई होती। और बदनामी होती, सो अलग से।”

“अरे भाई, क्या हुआ?”

“एक आदमी आया था। उसने बताया कि ‘डॉक्टर साहब ज्ञान प्रकाशजी के यहाँ बैठे हुए हैं। वहीं उनके बड़े भाई साहब भी बाहर से आ गए हैं। उन्होंने मुझे भेजा है कि मैं आपसे उनके गहने माँगकर उन तक पहुँचा दूँ।’

“‘वे खुद क्यों नहीं आए?’ मैंने पूछा।

“‘उन्हें गाड़ी पकड़ने की जल्दी है। मेरे पास साइकिल थी, इसलिए उन्होंने मुझे भेजा है।’

“‘लेकिन मैं आपको न जानती हूँ, न पहचानती हूँ; आपको गहने कैसे दे दूँ?’

“‘अरे, मैं उनके गाँव का पड़ोसी हूँ। मेरा और आपका घर सटा हुआ है। मेरा नाम महेश है।’ उसने और भी कई नाम लिये।”

“हाँ, महेश तो पड़ोसी है और उसने और जो-जो नाम लिये, वे भी मेरे पड़ोसी हैं। इसका मतलब यह है कि कोई ऐसा आदमी है जो हमारे बहुत निकट का है और जिसे यह बात मालूम है कि भाभी के लिए गहने खरीदे गए थे और वे गहने यहीं रखे हुए हैं।” मैंने कहा।

“हाँ, यह तो है ही।”

“मगर वह महेश नहीं हो सकता। ठगी करनेवाला अपना असली नाम क्यों बताएगा? हाँ, हो सकता है, वह कोई दूसरा पड़ोसी रहा हो।”

“जो भी रहा हो, लेकिन भाई साहब ने तो मुझे मुसीबत में डाल दिया था न!”

“उन्होंने क्या मुसीबत में डाला?”

“क्यों नहीं डाला! कई-कई बार वह द्वार बदला गया। पहले लिया गया तो जेठानीजी को उसका डिजाइन पसंद नहीं आया। उसी समय हल्ला हो गया होगा

कि इनके लिए हार आया है। फिर उसे जौहरी को लौटाकर कुछ और डिजाइन का हार खरीदा गया और मेरे पास रखकर कहीं और चले गए। कह गए कि वहाँ से लौटेंगे तो ले जाएँगे। बस, हल्ला-गुल्ला हो गया और ठगों की नजर लग गई। यहाँ से वहाँ तक वे समाचार बाँटते फिरे। यदि यह हार और साथ के कुछ और गहने चले गए होते तो यही कहा जाता कि मैं झूठ बोल रही हूँ। मैंने ही वे गहने दबा लिये हैं।”

“कमाल है भाई! उस आदमी को यह भी मालूम था कि भाई साहब गहने रखकर बाहर जा रहे हैं और आकर ले जाएँगे और हम ज्ञान प्रकाश के यहाँ बैठे हुए हैं।”

“कमाल हो या धमाल हो, मेरी जान तो साँसत में पड़ गई।”

“हाँ, फिर क्या हुआ?”

“हाँ तो एक बार तो मन हुआ कि उसे गहने दे दूँ, किंतु फिर वही तीसरी आँख। वह खुल गई और मैंने कहा कि ठीक है, आप चलिए, मैं गहने लेकर चलती हूँ। मैं रिक्षो पर बैठकर उसकी साइकिल के पीछे-पीछे चली और आगे जाकर पता नहीं वह किधर को मुड़कर लुप्त हो गया। जब मैंने देखा कि वह लुप्त हो गया है तो मैं और घबरा गई और पक्का विश्वास हो गया कि वह ठग था और हो सकता है, आगे किसी मोड़ पर प्रकट होकर गहने छीन ले। सहसा रिक्षा मुड़वाकर मैं बदहवास-सी घर लौट आई।”

“चलो, जो हुआ सो हुआ; प्रभु की कृपा है कि समय पर तुम्हारी तीसरी आँख खुल जाती है। इस तरह एक संभावित आशंका से अपने को न दुःखी करो, न छोटा।”

कहकर मैं हँसने लगा, लेकिन लगा कि मेरी हँसी में कोई चीख रहा है कि तुम्हारे कारण बार-बार यह औरत अग्निपरीक्षा से गुजरती है।



चिकित्सा



आज वह बहुत प्रसन्न था। घर आकर माँ के चरण छुए और बहुत उल्लास से उसके आगे दो हजार रुपए रखते हुए कहा—“माँ, यह तेरे बेटे की पहली अच्छी कमाई।”

“मुबारक हो, बेटा!” माँ ने हँसते हुए कहा। लेकिन माँ के चेहरे पर खुशी की वह तरंग नहीं दिखाई पड़ी, जिसकी कल्पना उसने की थी।

“माँ, तुमने इतने कष्ट सहकर अपने बेटे को डॉक्टर बनाया। अब तुम्हारे बेटे की अच्छी कमाई होने लगी है। मैं चाहूँगा कि अब तुम इस छोटी-सी नौकरी से छुट्टी पा लो।”

“देखा जाएगा, बेटे। अभी तो मैं बहुत स्वस्थ हूँ।”

“माँ, स्वस्थ होने का सवाल नहीं है, सवाल प्रतिष्ठा का है। अब तुम्हारा बेटा बड़ा डॉक्टर हो गया है। तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा यश बढ़ने लगा है, मरीज बढ़ने लगे हैं, निरंतर आमदनी बढ़ रही है। अब अच्छा नहीं लगता कि तुम निम्न स्तरीय सरकारी स्कूल में सड़ती रहो। देखो न, तुम महीने-भर में जो कमाओगी, वह मैं एक दिन में कमा लूँगा।”

“बेटे, इसी निम्न स्तरीय स्कूल ने हमें सहारा दिया है, अस्मिता दी है। नहीं तो सोचो—तुम्हारे पिताजी के गुजर जाने के बाद हम कहाँ होते? यह शिक्षा की पहली भूमि है बेटे, यहीं बच्चों के चरित्र की बुनियाद पड़ती है। इसे पैसे के खयाल से मत देखो। और पैसा? इसीके पैसे से तुम्हारी उस डॉक्टरी की पढ़ाई हुई है, जिसकी कमाई पर आज तुम गर्व कर रहे हो।”

“माँ, मजबूरी की बात और होती है। मजबूरी में तूने जो किया सो किया, अब तो तुम्हारे आराम के दिन हैं। अब क्यों गंदे मोहल्लों में गंदे बच्चों के बीच फँसी रहो? उनकी गंदगी से न जाने कितने कीटाणु उड़कर स्वास्थ्य खराब करते हैं। आखिर तुम्हें वहाँ क्या मिलता है?”

माँ मुसकराई। लगा जैसे दर्द से मुसकरा रही हो। बोली—“बेटे, बहुत कुछ मिलता है। और मुझे तो यह चुभ रहा है कि तुम मेरे बेटे होकर यह सब कुछ कह रहे हो। मैंने तुम्हें यह संस्कार तो नहीं देना चाहा था। तुम्हें इन गंदे गरीबों से इतनी घिन है तो इनका इलाज कैसे करोगे?”

“इलाज की बात और है, माँ। ये मेरे यहाँ आएँगे तो भगा तो नहीं दूँगा। मुझे तो जो भी फीस देगा, उसका इलाज करूँगा।”

“मगर वे तुम्हारी फीस कहाँ से दे पाएँगे? इसलिए वे वैसे भी तुम्हारे पास नहीं आएँगे!”

“ठीक कहती हो, माँ!”

“हाँ, लेकिन तुम ठीक नहीं कह रहे हो।”

“क्या, माँ?”

“वही, जो तुम कह रहे हो। जानते हो, इस देश में कितनी बड़ी संख्या है इन अभागों की? क्या उच्च शिक्षित लोगों का इनके प्रति कोई दायित्व नहीं होता? डॉक्टर इनका इलाज न करें, वकील इनका केस न लड़ें, शिक्षक इन्हें पढ़ाएँ नहीं, नेता और अफसर इन्हें अपने पास न फटकने दें, पुलिसवाले इन्हें कीड़े-मकोड़ों से बदतर समझें तो इनका क्या होगा? पैसेवाले इन्हें गरीबी और गंदगी में झोंककर सारी सुख-सुविधाओं पर कुंडली मारे बैठे हैं। आखिर यह कब तक चलेगा? क्या इनके घावों पर फाहा रखने का दायित्व हम लोगों का नहीं होता?”

“वाह माँ, तुम तो कवि हो गई हो। लेकिन आज कविता से काम नहीं चलता। और जिन्हें तुम गरीब कह रही हो, उनकी झुगियों में जाकर देखो, वहाँ क्या नहीं है!”

“देखा है, देखा है। झुगियों में जाकर तो नहीं देखा है, लेकिन स्कूल में झुगियों की व्यथा-कथा रोज देखती हूँ। और बेटे, इतनी स्थूल दृष्टि से दुनिया को मत देखो। तुमने कुछ झुगियों में रेडियो, टी. वी. आदि देख लिये तो समझने लगे कि वे बहुत अमीर हो गए। अरे, ये जो जिंदगी जीते हैं, उसका जहर कुछ कम करने के लिए ये चीजें साधन हैं, ऐसा क्यों नहीं समझते? क्या उनके इतने छोटे से सुख से ऊँचे लोगों को जलन होने लगी और वे समझने लगे कि उनकी सारी समस्याएँ हल हो गई? तुम मेरे पुत्र हो और मैं चाहती हूँ कि तुम बीमारों को केवल डॉक्टर की दृष्टि से मत देखो, मनुष्य की भी दृष्टि से देखो।”

“ठीक है माँ, तुम्हारा बेटा हूँ, तुम्हारा आदेश सिर माथे।”

“आदेश? आदेश से तुम अभागे लोगों की सेवा करोगे? या उससे तुम्हें

आत्मिक तृप्ति मिलेगी?"

"माँ, तृप्ति का क्या प्रश्न है? सच बात तो यह है कि लोगों को वास्तविक तृप्ति अब पैसे से ही मिलती है—कोई कहे या न कहे। हर नौकरी, हर पेशा इसी तृप्ति को खोजता है। यदि यह तृप्ति मिलती है तो सेवा भी अच्छी लगती है। तुम्हारा आदेश है तो गरीबों से कुछ कम पैसे लिया करूँगा।"

"बड़ी कृपा करोगे, बेटे! और देखो, तृप्ति पैसे से नहीं होती, पैसे तो और अतृप्ति पैदा करते हैं। उससे थोड़ा मुक्त होकर कभी देखना, शायद आत्मतृप्ति का अनुभव हो जाए। नौकरी नौकरी होती है, पेशा पेशा होता है और आत्मतृप्ति आत्मतृप्ति होती है।"

बेटा हँसा। बोला—"माँ आँ आँ! आज तुम्हें क्या हो गया है? तुम किस तृप्ति की बात कर रही हो?"

"बेटा, आज तुम्हें तृप्ति इस बात की हो रही है कि तुमने आज मरीजों से दो हजार रुपए प्राप्त किए और मुझे तृप्ति इस बात की हो रही है कि मैंने आज एक अभागे छात्र के लिए दो रोटी का इंतजाम कर दिया। सुनोगे, आज मैं जिस तृप्ति से गुजरी हूँ?"

"सुनाओ, माँ?"

"तुमने कहा था न कि सरकारी स्कूल में बहुत गंदे बच्चे आते हैं। हाँ, सचमुच बहुत गंदे आते हैं। मेरी नौकरी तो कहती है कि उन्हें जो पढ़ा सकती हो, पढ़ाओ। पाठ न करके आने पर या कक्षा में प्रश्नों के उत्तर न देने पर उन्हें पीटो और आजिज आकर उन्हें गालियाँ दो—'जाओ नरक के कीड़ो, नरक में ही जाओ, पढ़ाई-लिखाई तुम्हारे वश की नहीं'। और अपनी तनख्वाह लो, मस्त रहो। काफी लोग ऐसा ही करते हैं। लेकिन पता नहीं, बेटा क्यों, तुम्हारी यह माँ उनकी गंदगी और उसके भीतर छिपी हुई गरीबी तथा लाचारगी देखकर थर्रा उठती है। उनके चेहरों पर सदियों से पुती हुई उदासी और आँखों में लिखा हुआ डर का सन्नाटा देखती है तो जी न जाने कैसा-कैसा होने लगता है। मैं सोचती रहती हूँ कि न जाने कितनी सीमाओं और दिमागी जकड़बंदी से निकलकर ये अभागे नई राह पर चलने के लिए निकले हैं। शायद कुछ बन जाएँ। इनके लिए हम केवल शिक्षक नहीं होते, इनके अभिभावक भी होते हैं, इनकी अँगुली पकड़कर इन्हें कुछ दूर तक ले चलना है, ताकि ये बीच ही में कहीं गिर न पड़ें।"

"तो माँ!" बेटे ने मुसकराते हुए कहा।

"बेटे, अब बीच में टोको मत, मैं कोई कहानी नहीं, बल्कि जीवित व्यथा सुना रही हूँ। हाँ, तो आज कुछ लड़के एक लड़के को पकड़कर ले आए। वह

छटपटा रहा था। 'क्या है? इसे क्या हुआ है?' मैंने पूछा, तो वे बोले—'मैडम, इसके पेट में दर्द हो रहा है।'

"मैं अपने साथ हमेशा कुछ दवाएँ रखती हूँ। मैंने उसे अपने पास बैठाया। यह मेरा खाली घंटा था। उसे पेटदर्द का एक टेबलेट दिया और बोली—'बेंच पर आराम से लेट जाओ।' मैंने देखा, उसका दर्द बढ़ता ही जा रहा था। मैंने डॉक्टर पूछा—'सुबह ऐसा क्या खा लिया था रे, कि इतना भयानक पेटदर्द शुरू हो गया? क्यों अंड-बंड चीजें खा लेते हो?'

"वह चुप रहा तो मैंने डॉक्टर पूछा—'बोलता क्यों नहीं रे?'

"सहंमते हुए उसने कहा—'मैडम, कल शाम से ही मैंने कुछ नहीं खाया।'

" 'क्यों?'

" 'घर में खाने को कुछ था ही नहीं।'

"मैं स्तब्ध रह गई। मैंने सोचा, जहाँ रोटी चिकित्सा हो वहाँ दवा क्या काम करेगी? चपरासी को पाँच का नोट देकर कहा—'इसके लिए कुछ केले और डबल रोटी ले आओ।'

"लड़के ने कुछ खाया। धीरे-धीरे उसके पेट का दर्द शांत हो गया और उसके चेहरे पर एक हँसी उग आई।

" 'अब जाओ बेटा क्लास में।' कहकर उसे भेज दिया; लेकिन मैं देर तक मर्माहत बैठी रही। आँखों में आँसू आ गए थे।"

उसे लगा कि फिर रो पड़ेगी, इसलिए उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

"अब बताओ, बेटे....." उसने मुँह फेरकर बेटे से कुछ पूछना चाहा, किंतु देखा कि वह तो वहाँ से उठ गया है और मुँह फेरकर आकाश में कुछ देख रहा है।



गोहत्या



मैं अपने नवनिर्मित मकान में आया ही आया था। सवेरे-सवेरे घर के सामने टहल रहा था।

‘धोंय धोंय....’

देखा, सब्जीवाला एक गाय को लाठी से पीट रहा है और गाय अपने मुँह में सब्जी दबाए हुए इधर-उधर भाग रही है।

मैंने कहा—“अरे भाई, क्यों बेरहमी से पीट रहे हो? आखिर गाय है। गाय माँ की तरह होती है।”

“अरे बाबू, इसने बहुत नाक में दम कर दिया है। कई-कई बार न जाने किधर से निकल आती है और झपाटे से सब्जी मार ले जाती है और यह एक नहीं है, कई-कई हैं। और जिसे दूध दे रही हैं, उसकी माँ होंगी, हमारी तो रोटी ही छीन ले रही हैं।”

“वैसे किसकी गाय है यह? कहीं लावारिस तो नहीं?”

“अब पता नहीं, बाबू। कई-कई हैं, पता नहीं किस-किसकी हैं! वैसे लावारिस नहीं हैं। लोग दूध दुहकर छोड़ देते हैं कि जाओ—खाओ—कमाओ; और ये सड़क पर खाती-कमाती घूमती हैं। वैसे यह गाय तो शायद पुजारीजी महाराज की है।”

“पुजारीजी महाराज कौन?”

“अरे वही, जो मंदिर के पुजारी हैं।”

“अरे वे तो बड़े धार्मिक व्यक्ति हैं। सवेरे-सवेरे गाय को गुदगुदाते हैं। उस गुदगुदी से गाय पेशाब करने लगती है। पंडितजी अँजुरी रोपकर पेशाब पीने लगते हैं।” मेरे पास खड़े एक व्यापारी ने कहा।

“अच्छा, इसका पेशाब पीते हैं?” सब्जीवाले ने चौंककर पूछा।

“अरे हाँ भाई, इसमें चौंकने की क्या बात है? गाय का पेशाब तो पवित्र

होता है, उसे पीकर लोग शुद्ध हो जाते हैं।" व्यापारी का उत्तर था।

"ऐसा!"

"हाँ, और इतना ही नहीं, स्वास्थ्य के लिए भी यह बहुत लाभदायक है।"

व्यापारी ने अपना वैज्ञानिक ज्ञान व्यक्त किया।

"अरे बाबू, कुछ भी हो, लेकिन है तो पेशाब ही न। वह कोई पीने की चीज है?"

मैं हँसने लगा—"तुम बहुत ठीक कहते हो, भाई; लेकिन जो लोग पीते हैं उनसे उसका स्वाद पूछो। वे तो कहेंगे कि अमृत पी रहे हैं।"

व्यापारीजी चुपचाप सरक गए थे।

देखा, गाय कुछ दूरी पर खड़ी सब्जी चबाकर निगल रही थी और उसके शरीर पर लाठी की धारियाँ पड़ी हुई थीं।

मुझे बहुत दया आई। सब्जीवाले को डाँटकर कहा—"देखो तो, इस बेचारी के शरीर पर कितनी धारियाँ पड़ गई हैं!"

"मैं क्या करूँ, बाबू, गाय को मारना अच्छा लगता है क्या? पहले तो बहुत परहेज किया, लेकिन यह बड़ी ढीठ है, बिना मार खाए भागती ही नहीं। और अजब बात यह देखिए कि दूध पीते हैं पुजारीजी महाराज, उसका व्यापार करते हैं पुजारीजी महाराज और पालन-पोषण करते हैं दूसरे लोग। मेरी एक किलो सब्जी का मतलब होता है बीस रुपए।"

"क्या वे दूध बेचते भी हैं?"

"हाँ, मेरे पड़ोसी के बच्चे के लिए वहीं से दूध आता है।"

मुझे लगा कि गाय को प्यार से सहलाना चाहिए। मैं उसकी ओर बढ़ा, किंतु उसने फुफकारकर सींग तान लिये। मैं हट आया—बाबा रे बाबा! यह तो गुस्से में है।

तब तक देखा, दूसरा सब्जीवाला दूसरी गाय को खदेड़ता हुआ आ रहा है और उसपर डंडे बरसा रहा है।

यानी गायों के आने, भागने और डंडों के गिरने की एक लय बनी हुई है।

तब तक देखा कि कैसेट में गो-महिमा का गीत बजाती हुई एक छोटी-सी बैलगाड़ी चली आ रही है। बैलगाड़ी को छोटा-सा बैल खींच रहा है और गाड़ी को तीन ओर से रंगीन परदे से ढककर पीछे से खुला छोड़ दिया गया है। उसमें कुछ देवी-देवताओं की मूर्तियाँ हैं। पीछे-पीछे एक छोटी-सी गाय चली आ रही है, जिसकी पीठ पर खुरदार छोटा-सा पैर उगा हुआ है। साथ-साथ संन्यासीवेश में दो आदमी चले आ रहे हैं।

गाड़ी मेरे पास आ खड़ी हुई।

“क्या है, भाई?”

“गाय माता का दर्शन कीजिए।”

“सो तो कर रहा हूँ। देखिए, हमारे सामने कितनी गायें खड़ी हैं, उन्हें भी देख रहा हूँ।”

“अरे, यह सुरभी गाय है, धर्मात्मा।”

“हाँ, सो तो देख रहा हूँ कि इसका शरीर विकृत है।”

“विकृत कह रहे हैं आप! अरे, वेदों में लिखा है कि ऐसी गाय देव-गाय होती है, उसके दर्शन से पुण्य-लाभ होता है।”

“तो आपको तो हो गया होगा, फिर इसे घुमाते क्यों घूम रहे हैं? और किस वेद में कहाँ लिखा गया है, जरा मैं भी तो जानूँ?”

“देखिए, आप नहीं समझ रहे हैं……।”

“मैं सब समझ रहा हूँ। आप आगे बढ़िए और किसी और को धर्म के नाम पर उल्लू बनाइए।”

वे लोग आगे बढ़ गए। न जाने कितनी गालियाँ दे रहे होंगे।



मेरे मकान के आसपास कई मकान बन रहे थे। प्लॉटों के सामने सड़क पर रेत गिरी हुई थी। गायों के झुंड रेत पर रात्रि-विचरण करते थे। सुबह-सुबह आसपास गोबर-ही-गोबर दिखाई पड़ता था। अलख सुबह उठकर वे गायें शायद अपने मालिकों के यहाँ चली जाती थीं। दूध दुहाकर उन्हें याद आता था कि लोगों के घरों से रोटी वसूलना तो रह ही गया। फिर वे बारी-बारी सिर हिलाती आती थीं और हर दरवाजे पर खड़ी हो जाती थीं और रोटी की उगाही करके सरक जाती थीं। गाय को बासी रोटी देकर लोग तृप्त हो जाते थे और समझ लेते थे, सुबह-सुबह एक पुण्य का कार्य उनके खाते में जुड़ गया है। गाय के गोबर को भी लोग पवित्र ही मानते हैं, इसलिए सड़क पर बिखरे हुए गोबर से किसीको शिकायत नहीं थी। अभी इस मोहल्ले में सफाई की कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः फैले या फैलते हुए गोबर से दुर्गंध उठती थी। मैंने कई बार लोगों से कहा भी कि इसका कोई प्रबंध होना चाहिए। लोगों ने इसे हलकेपन से लिया। इसके कई कारण हैं— एक तो इस गली में अधिकांश व्यापारी लोग हैं, जिन्हें सड़क पर हो रहे किसी व्यापार को देखने की फुरसत नहीं। दूसरे, सौंदर्यबोध की अपेक्षा उनका अर्थबोध अधिक सजग रहता है। आसपास की दुनिया कितनी सुंदर-असुंदर है, इसकी चिंता उन्हें नहीं होती। चिंता इस बात की होती है कि इस दुनिया से वे कितना

कमा सकते हैं। तीसरे, वे धर्म को जीते नहीं, उससे (बल्कि उसके बिजूके से) डरते हैं।

गोबर अपने आप सूखता रहा, फैलता रहा। धर्मपरायण लोग आसानी से उसके बीच जीते रहे; लेकिन मेरा तो जीना मुश्किल हो गया और तब तो हद हो गई, जब ये गाय माताएँ मेरे पेड़-पौधों का विध्वंस करने लगीं। घर के आगे की थोड़ी-सी जमीन तार से घेरकर उसमें कुछ फूल और पेड़-पौधे लगा रखे थे। उनमें एक था हरसिंगार का पेड़। इस बरसात में वह खूब प्रफुल्ल होकर बढ़ा था। मुलायम पत्तों से भरी उसकी डालियाँ हुलसकर बढ़ और फैल रही थीं।

मैं बहुत प्रसन्न था कि इस शरत् में यह फूलेगा। महीना-भर तक सुबह-सुबह उसके फूलों की बारिश होगी और उनकी खुशबू में मैं नहाऊँगा। फूलों को अँजुरी में भरूँगा, उन्हें अपने कमरे में सजाऊँगा और उसके माध्यम से एक खुशनुमा शरत् को जी लूँगा।

किंतु गाय माताएँ आते-जाते हरसिंगार की डालियों की ओर लपकने लगीं। उन्हें ढूँढ करने लगीं। कभी देखता था तो हाँक देता था। कभी नहीं देखता था तो वे इतमीनान से चबाती थीं। मन तकलीफ से भर उठा। तार के बाहर की ओर फैलती डालियों को रस्सी में बाँधकर अंदर की ओर मोड़ दिया था। फिर भी, एक दिन सुबह-सुबह मैं टहलकर आ रहा था तो देखा, पुजारीजी की गाय दोनों टाँगें उठाकर हरसिंगार की डालियों को पकड़ने की कोशिश कर रही थी। मुझे भयानक गुस्सा आ गया। पास ही पड़ा एक डंडा लेकर उसे खदेड़ने लगा। दो-चार डंडे लगा भी दिए। वह सब्जीवाले की ओर भागी, मैं पीछे-पीछे।

फिर रुक गया। हाँफने लगा।

“क्या हुआ, बाबूजी?” उसी सब्जीवाले ने पूछा।

“अरे, यह ससुरी मेरे फूलों और पेड़ों का नाश कर दे रही है।”

“अरे बाबू, तो क्या हुआ? गाय तो माँ की तरह होती है न! और फूल-पत्ता ही खा रही थी न, कोई साग-सब्जी नहीं न!”

वह मुसकरा रहा था। मुझे लगा कि वह व्यंग्य से मेरे उस दिन का जवाब दे रहा है।

“देखो, तुम्हें दुनिया में सब्जी ही सबकुछ दिखाई पड़ती है। तुम क्या जानो, इन फूलों और पेड़ों का महत्त्व क्या है!”

मैं चला आया, किंतु अनमन-सा हो उठा। सोचने लगा, गाय भी तो पशु ही है न। और पत्ते खाना तो इनकी आदत है। इसमें इनका क्या कसूर है? कसूर जिसका है उससे तो हम लोग कुछ कहते नहीं। इन निरीह पशुओं पर अपना

गाड़ी मेरे पास आ खड़ी हुई।

“क्या है, भाई?”

“गाय माता का दर्शन कीजिए।”

“सो तो कर रहा हूँ। देखिए, हमारे सामने कितनी गायें खड़ी हैं, उन्हें भी देख रहा हूँ।”

“अरे, यह सुरभी गाय है, धर्मात्मा।”

“हाँ, सो तो देख रहा हूँ कि इसका शरीर विकृत है।”

“विकृत कह रहे हैं आप! अरे, वेदों में लिखा है कि ऐसी गाय देव-गाय होती है, उसके दर्शन से पुण्य-लाभ होता है।”

“तो आपको तो हो गया होगा, फिर इसे घुमाते क्यों घूम रहे हैं? और किस वेद में कहाँ लिखा गया है, जरा मैं भी तो जानूँ?”

“देखिए, आप नहीं समझ रहे हैं……।”

“मैं सब समझ रहा हूँ। आप आगे बढ़िए और किसी और को धर्म के नाम पर उल्लू बनाइए।”

वे लोग आगे बढ़ गए। न जाने कितनी गालियाँ दे रहे होंगे।



मेरे मकान के आसपास कई मकान बन रहे थे। प्लांटों के सामने सड़क पर रेत गिरी हुई थी। गायों के झुंड रेत पर रात्रि-विचरण करते थे। सुबह-सुबह आसपास गोबर-ही-गोबर दिखाई पड़ता था। अलख सुबह उठकर वे गायें शायद अपने मालिकों के यहाँ चली जाती थीं। दूध दुहाकर उन्हें याद आता था कि लोगों के घरों से रोटी वसूलना तो रह ही गया। फिर वे बारी-बारी सिर हिलाती आती थीं और हर दरवाजे पर खड़ी हो जाती थीं और रोटी की उगाही करके सरक जाती थीं। गाय को बासी रोटी देकर लोग तृप्त हो जाते थे और समझ लेते थे, सुबह-सुबह एक पुण्य का कार्य उनके खाते में जुड़ गया है। गाय के गोबर को भी लोग पवित्र ही मानते हैं, इसलिए सड़क पर बिखरे हुए गोबर से किसीको शिकायत नहीं थी। अभी इस मोहल्ले में सफाई की कोई व्यवस्था नहीं थी, अतः फैले या फैलते हुए गोबर से दुर्गंध उठती थी। मैंने कई बार लोगों से कहा भी कि इसका कोई प्रबंध होना चाहिए। लोगों ने इसे हलकेपन से लिया। इसके कई कारण हैं—एक तो इस गली में अधिकांश व्यापारी लोग हैं, जिन्हें सड़क पर हो रहे किसी व्यापार को देखने की फुरसत नहीं। दूसरे, सौंदर्यबोध की अपेक्षा उनका अर्थबोध अधिक सजग रहता है। आसपास की दुनिया कितनी सुंदर-असुंदर है, इसकी चिंता उन्हें नहीं होती। चिंता इस बात की होती है कि इस दुनिया से वे कितना

कमा सकते हैं। तीसरे, वे धर्म को जीते नहीं, उससे (बल्कि उसके बिजूके से) डरते हैं।

गोबर अपने आप सूखता रहा, फैलता रहा। धर्मपरायण लोग आसानी से उसके बीच जीते रहे; लेकिन मेरा तो जीना मुश्किल हो गया और तब तो हृद हो गई, जब ये गाय माताएँ मेरे पेड़-पौधों का विध्वंस करने लगीं। घर के आगे की थोड़ी-सी जमीन तार से घेरकर उसमें कुछ फूल और पेड़-पौधे लगा रखे थे। उनमें एक था हरसिंगार का पेड़। इस बरसात में वह खूब प्रफुल्ल होकर बढ़ा था। मुलायम पत्तों से भरी उसकी डालियाँ हुलसकर बढ़ और फैल रही थीं।

मैं बहुत प्रसन्न था कि इस शरत् में यह फूलेगा। महीना-भर तक सुबह-सुबह उसके फूलों की बारिश होगी और उनकी खुशबू में मैं नहाऊँगा। फूलों को अँजुरी में भरूँगा, उन्हें अपने कमरे में सजाऊँगा और उसके माध्यम से एक खुशनुमा शरत् को जी लूँगा।

किंतु गाय माताएँ आते-जाते हरसिंगार की डालियों की ओर लपकने लगीं। उन्हें ढूँढ करने लगीं। कभी देखता था तो हाँक देता था। कभी नहीं देखता था तो वे इतमीनान से चबाती थीं। मन तकलीफ से भर उठा। तार के बाहर की ओर फैलती डालियों को रस्सी में बाँधकर अंदर की ओर मोड़ दिया था। फिर भी, एक दिन सुबह-सुबह मैं टहलकर आ रहा था तो देखा, पुजारीजी की गाय दोनों टाँगें उठाकर हरसिंगार की डालियों को पकड़ने की कोशिश कर रही थी। मुझे भयानक गुस्सा आ गया। पास ही पड़ा एक डंडा लेकर उसे खदेड़ने लगा। दो-चार डंडे लगा भी दिए। वह सब्जीवाले की ओर भागी, मैं पीछे-पीछे।

फिर रुक गया। हाँफने लगा।

“क्या हुआ, बाबूजी?” उसी सब्जीवाले ने पूछा।

“अरे, यह ससुरी मेरे फूलों और पेड़ों का नाश कर दे रही है।”

“अरे बाबू, तो क्या हुआ? गाय तो माँ की तरह होती है न! और फूल-पत्ता ही खा रही थी न, कोई साग-सब्जी नहीं न!”

वह मुसकरा रहा था। मुझे लगा कि वह व्यंग्य से मेरे उस दिन का जवाब दे रहा है।

“देखो, तुम्हें दुनिया में सब्जी ही सबकुछ दिखाई पड़ती है। तुम क्या जानो, इन फूलों और पेड़ों का महत्त्व क्या है!”

मैं चला आया, किंतु अनमन-सा हो उठा। सोचने लगा, गाय भी तो पशु ही है न। और पत्ते खाना तो इनकी आदत है। इसमें इनका क्या कसूर है? कसूर जिसका है उससे तो हम लोग कुछ कहते नहीं। इन निरीह पशुओं पर अपना

५० ❖ गोहत्या

गुस्सा उतारते हैं।

कुछ दिन बाद ऑफिस से आ रहा था तो देखा, सड़क पर भीड़ जमा है। पास गया तो ज्ञात हुआ कि पुजारीजी की गाय मर गई है। उसके मुँह से झाग निकला हुआ है। लोग तरह-तरह के अनुमान लगा रहे हैं—किसने मारा होगा? कौन हो सकता है? गाय की हत्या जैसा जघन्य पाप किसने किया होगा। लगता है, किसीने जहर दिया है। पता लगाकर उस आदमी को हत्या का दंड देना चाहिए।

लोग चुप थे। पुजारीजी की आँखों में आँसू थे। मैंने कहा—“मैं जानता हूँ, किसने हत्या की है इस गाय की।”

“किसने की है?” लोग चौंककर बोले।

मैं चुप लगा गया। फिर लोग बोले, “बताइए! बताइए न, किसने की है?”

“जिसकी गाय है, उसने की है।”

“गाय तो पुजारीजी की है।”

“मैं नहीं जानता किसकी है, परंतु जिस किसीकी हो।”

“अरे, इतने बड़े धर्मात्मा व्यक्ति अपनी ही गाय की हत्या करेंगे? आप कैसी फालतू बात कर रहे हैं!”

“करेंगे नहीं, की है। इनसे पूछिए कि अपनी गाय को दुहकर सड़क पर आवारा की तरह क्यों छोड़ देते थे? गाय किसीका कुछ नष्ट कर रही है, किसीका कुछ। कभी इधर लाठी खा रही है, कभी उधर। अरे, यह तो कई बच्चों को पटक चुकी थी। पुजारीजी को शाम को अपनी गाय पर बरसी लाठियों के निशान नहीं दिखाई पड़ते थे।”

“अरे, आप कैसी नास्तिकों जैसी उलटी-सीधी बातें कर रहे हैं? गाय माता है, किसीका कुछ खा लिया तो इसका यह मतलब तो नहीं कि उसकी हत्या कर दी जाए। यह तो घोर अधर्म है।”

“मैं भी इसे समझता हूँ, लेकिन क्या धर्म यह है कि माता का दूध पीकर उसे लाठियाँ खाने के लिए घर से बाहर हाँक दिया जाए? किसने यह क्रूर हत्या की, यह तो पता नहीं, किंतु उस बेटे का तो पता है न, जो अपनी माँ की हत्या का जिम्मेदार है—वह भी पुजारी बनकर।”

मुझे लगा कि लोगों को मेरा तर्क कड़वा लग रहा है और मन-ही-मन मुझे कोस रहे हैं। वे कभी भी भड़क सकते हैं।

मैं वहाँ से धीरे-धीरे लौटने लगा। पीछे सुना, एक आवाज उठ रही थी—

“अजीब ऊलजलूल बात करता है यह आदमी। बहुत अधार्मिक लगता है।”

इच्छा हुई, पलटकर कहूँ—‘मेरी बात आपकी समझ में नहीं आएगी, बंधु! जाइए, डाँड़ी मारिए और धर्म के नाम पर चींटी को आटा और गाय को जूठी रोटी खिलाइए।’



नए-पुराने



अनिल आबकारी विभाग में अफसर हो गया था। धीरे-धीरे उसका गाँव आना कम हो गया। कभी आता भी तो सूट-बूट और टाई में ही आता था। वह मेरा गँवई मित्र था; लेकिन मित्रता की आँच ठंडी पड़ती जा रही थी। मैं मैट्रिक पास कर घर में ही खेती-बाड़ी करता था। अनिल जब पढ़ता था तो शुरू-शुरू में आते ही मुझसे मिलता था और फिर हम दोनों ढेर सारी बातें करते थे और आवारागर्दी करते थे। किंतु जब से वह अफसर बना, गाँव से कटता गया। जब आता तो मैं उससे जरूर मिलता था; किंतु लगता था कि अब वह बात रही नहीं।

इस बार आया तो मैंने उसे हलके से बाँहों में समेट लिया। वह मुझे धीरे से हटाकर अपना कोट हाथ से झाड़ने लगा; जैसे मेरे हाथ से छू जाने से उसपर धूल जम गई हो। फिर कॉलर ठीक किया।

मैंने कहा—“दोस्त, अबकी बहुत दिनों पर गाँव आए।”

वह बोला—“क्या गाँव आऊँ, एक-से-एक जाहिल लोग यहाँ हैं। न बोलने की तमीज, न व्यवहार करने का शऊर। वे नहीं जानते कि आधुनिक तौर-तरीका क्या है? वे पिछड़े हुए गीत गाएँगे, पिछड़ा हुआ व्यवहार करेंगे, फूहड़ हँसी-मजाक करेंगे, गालियाँ बकेंगे।”

मैं हैरान था। वह इसी धूल-माटी में पला-पुसा, बड़ा हुआ और बचपन में इसी धूल-माटी को प्यार करता था। यहाँ के त्योहारों, मेलों, पर्वों के साथ हो लेता था। गाँव के फूहड़ और पिछड़े हुए माहौल में हँसता था, गाता था। पढ़ने के लिए गाँव से शहर गया, इसके रंग बदलने लगे थे और जब से अफसर हो गया, गाँव से नफरत करने लगा। वहाँ जाकर एक नई औरत रख ली है। पत्नी अपने मायके में पड़ी है। अब अपनी चाल-ढाल में एक नफासत भर ली है। तौलकर बोलता है, तौलकर हँसता है। बात-बात में कहता है—‘स्टूपिड’।

मैं अपने गाँव के एक मुँहफट चाचा मंगल के साथ कहीं जा रहा था। देखा,

सूटेड-बूटेड अनिल कहीं से आ रहा था। मंगल चाचा ने कहा—“अनिलवा है का हो?”

“हाँ, वही है। अरे, ये साहब हैं, इन्हें अनिलवा क्यों कहते हैं?”

“अरे, साहब होगा अपने ऑफिस के लिए, हमारे लिए तो अनिलवा ही है।”

तब तक अनिल पास में आ गया और बिना नमस्कार किए आगे बढ़ने लगा तो मंगल चाचा मुझसे बोल पड़े—“का हो, ई त अनिलवा लागत बा, अहे है न?”

“हाँ, वही है।”

अनिल मुड़कर बोला—“आपको व्यवहार करने की तमीज नहीं है।”

“हे बल्लू के नाती (पोता), अब तुम मुझे तमीज सिखाओगे! पहले अपने तो तमीज सीखो। अरे, यह तो सीखो कि अपने ही गाँव के बड़े-बूढ़ों से कैसे व्यवहार करते हैं।”

“मैं एम. ए. पास हूँ। शहर में रहता हूँ, अफसर हूँ। अब गाँव के गाँवारों से मुझे तमीज सीखनी पड़ेगी? आगे मुझे ‘बल्लू का नाती’ कहकर मत पुकारिएगा। बल्लू बल्लू थे और अनिल अनिल है। वे गाँवार-जाहिल जो भी हों, मुझसे उनसे क्या वास्ता!”

मंगल चाचा हँस पड़े। हम आगे बढ़ गए तो मैंने कहा—“लगता है, अनिल के मन में अपने बीते हुए दिनों और खानदान के लोगों को लेकर बड़ी कुंठा है। बल्लू बाबा के बारे में बहुत नहीं जानता, थोड़ा-बहुत सुना है। यह उनसे संबद्ध होकर अपने को बहुत अपमानित अनुभव करने लगा है।”

“अरे, कहाँ वे लोग, कहाँ यह पिद्दा! वे जो भी थे, अपने आपमें बहुत बड़े थे।”

“उनके बारे में कुछ सुनाइए न, मंगल चाचा!”

“तो सुनो।

“बल्लू एक बहुत बड़ी कद-काठी के आदमी थे। गाँवार और अपढ़ तो थे, पर उस जमाने में पढ़ा-लिखा कौन था! लेकिन पढ़े-लिखों से वे लोग ज्यादा समझदार होते थे। बल्लू चूल्हा जलते ही चौके में बैठ जाते थे। जो भी बनता था, खाते चले जाते थे। उनकी औरत परेशान हो जाती थी। लेकिन आदत पड़ गई थी। कोई क्या कहता! वे बगीचे में चले जाते और तोते के खतों में हाथ डालकर उसके बच्चे पकड़ लेते और कुछ को इस टेंट में, कुछ को उस टेंट में खोंस लेते थे। नहाते बहुत कम थे। दो-तीन दिन बाद वे अपने आप कहते—

‘ऊँह, क्या बस्सा रहा है, क्या बस्सा रहा है।’ वे नहाने जाते और धोती खोलते तो टेंट में से मरे हुए तोते निकलते। उनकी औरत कभी विरोध में कुछ बोल देती और उन्हें गुस्सा आ जाता तो लात से मारते। वह ढह जाती और बेहोश हो जाती तो उसे गोद में लेकर रोते—‘तुम्हींने न गुस्सा दिलाया है, तुम्हींने न गुस्सा दिलाया है।’ उसे खाट पर सुलाकर देर तक उसकी देह सहलाते और जब वह होश में आती तो पति का प्यार पाकर निहाल हो जाती और उठकर कहती—‘अरे छोड़िए, कोई देखेगा तो क्या कहेगा!’

“‘अरे कोई साला क्या कहेगा? जब तुम्हें मारने पर कोई कुछ नहीं कहता तो दुलार करने पर क्या कहेगा? क्यों कहेगा? और कहता है तो कहे। बल्लू किसी साले से डरता है!’

“गुस्सा आने पर टाँगी से घर के सारे अरतन-बरतन फोड़ डालते और जब गुस्सा ठंडा पड़ता था तो रोते थे और फिर सारे बरतन बहँगी में टाँगकर चल देते थे कस्बे की ओर, मरम्मत कराने के लिए।

“एक दिन उनका बेटा रोता हुआ आया तो बल्लू ने डाँटकर पूछा—‘क्यों रोता है?’

“‘बाबू, मुझे गोमई ने मारा है।’

“‘अबे कायर साला, बल्लू का बेटा होकर मार खाकर रोता हुआ आ रहा है! चल तो, कहाँ है गोमया?’

“बल्लू बेटे को लेकर चले तो गोमई आते दिखाई पड़ गए। उन्हें देखते ही बल्लू ने मारना शुरू कर दिया। बेटा चिल्लाया—‘अरे बाबू, ई गोमई नहीं, ऊ गोमई (इस गोमई ने नहीं, दूसरे गोमई ने मारा है)।’

“‘अबे चुप उल्लू का पट्टा, किसी गोमई को मारना ही है न, का ई गोमई, का ऊ गोमई (किसी गोमई को मारना ही है न, क्या यह गोमई और क्या वह गोमई)!’ ”

“बड़े सनक्कड़ आदमी थे बल्लू बाबा।”

“और सुनोगे?”

“एक बार वे अपनी ससुराल गए। ससुराल पहुँचते-पहुँचते रात के नौ बज गए। दरवाजे पर इनके ससुर बैठे हुए थे। वे बंका में कमाते थे और बहुत सालों बाद घर लौटे थे। बल्लू की शादी में भी नहीं आ पाए थे। जब बल्लू दरवाजे पर पहुँचे तो ससुर ने डपटकर पूछा—‘कौन हो?’ उन्होंने डपटकर उत्तर दिया—‘तुम्हारा दामाद!’ इतना सुनते ही ससुर का खून खौल गया। पता नहीं यह कौन बहूदा आदमी मेरा दामाद बन रहा है। वे भी कसंरती जवान थे। उठे और कहा—

‘रहो ससुर, अभी तुम्हारा दामाद बनना निकालता हूँ।’ और जाकर बल्लू से भिड़ गए। पटका-पटकी, गाली-गलौज शुरू हुई। शोर सुनकर आसपास के लोग आ गए। एक आदमी ने टॉर्च मारी और चिल्लाकर ससुर से कहा—‘अरे, ई तो बल्लू पहना हैं भइया, आपके दामाद।’

“‘ऐं, यह क्या हो गया?’ कहते हुए ससुर उठ खड़ा हुआ तो बल्लू बोले—‘मैंने तो कहा था—दामाद हूँ, कोई झूठ कहा था?’”

“बड़े विचित्र और सनक्कड़ आदमी थे बल्लू बाबा। इनका तो जीवन सनक-भरी घटनाओं से भरा पड़ा है।” मैंने कहा।

“हाँ, लेकिन उनके सनकीपन में सचाई तो थी ही, एक ऐसा बड़प्पन भी था जो बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमानों, शरीफों और इज्जतदार लोगों में दुर्लभ है। ... बल्लू गाँव की ताकत थे। वे खाली खाते ही नहीं थे, उसे सार्थक भी करते थे। वे अद्भुत लठैत थे। जब किसी गाँव से अपने गाँव की मारपीट होती थी, बल्लू लाठी लिये सबसे आगे दिखाई पड़ते थे। सच तो यह है कि बल्लू और उन जैसे दो-चार लठैतों के कारण किसी गाँव की हिम्मत नहीं थी कि हमारे गाँव को आँख दिखाए। गाँव में आपस में दोस्ती थी तो सीधी, दुश्मनी थी तो सीधी। जानते हो, एक बार मेरे बाबा से उनकी लड़ाई हो गई। बाबा भी जबरदस्त लठैत थे। बाबा की लाठी उन्हें लग गई और उनका सिर फट गया। पट्टीदार लोग उन्हें पालकी में लादकर थाना ले जाने लगे। रास्ते में उन्हें होश आया तो ज्ञात हुआ कि उन्हें थाना ले जाया जा रहा है। उन्होंने डाँटकर कहा—‘अरे बुजदिलो, दो भाइयों की लड़ाई में थाने का क्या काम? मेरी लाठी उसे लग गई होती तो?’ और पालकी वापस आ गई। ... और तुम्हें पता है, कुछ दिन बाद मेरे बाबा एक मुसीबत में फँस गए। लगान न दे पा सकने की वजह से जमींदार के सिपाही उन्हें पकड़कर ले जाने आए थे। बाबा ने बार-बार कहा—‘अभी पैसे नहीं हैं, पैसे होंगे तो लगान दे दूँगा और मैं जमींदार के यहाँ नहीं जाऊँगा।’ जमींदार के आठ-दस सिपाही बाबा को पकड़ने लगे। बाबा ने लाठी तान ली और डर से पट्टीदार लोग चुपचाप देखते रहे। तब तक बल्लू आ गए और ललकारकर कहा—‘जिसने माँ का दूध पिया हो, आ जाए।’ और लाठी तानकर खड़े हो गए। सिपाही सकपकाए और वहाँ से यह कहते हुए वापस होने लगे कि ठीक है, अब कुर्की होगी।

“बल्लू ने एक भद्दा-सा इशारा करते हुए कहा—‘जाओ, बाबू साहब से कह देना, इसकी भी कुर्की करा लेंगे।’

“बाद में उनके सगे पट्टीदारों ने कहा—‘जिस आदमी से आपकी दुश्मनी है, उसीके लिए आप लड़ने पहुँच गए। उसके अपने पट्टीदार तो चुप रहे।’

“‘अरे, बड़े बेवकूफ हो तुम लोग! हमारी-उसकी कहाँ की दुश्मनी! एक

बार लड़ाई हुई, खतम हो गई; और हो भी तो आपस में होगी न! जब हमारे किसी भाई को कोई दूसरा सताएगा तो चुप रहा जाएगा क्या? तुम लोगों को नपुंसकता करनी हो, करो, बल्लू से तो यह न होगी।”

“क्या बात है, मंगल चाचा! कैसे-कैसे लोग थे वे!”

“और जानते हो, वे कैसे मरे?”

“नहीं, यह तो नहीं मालूम।”

“तो सुनो। जाड़े की शाम हो रही थी। चारों ओर अरहर के खेत थे। सुनसान था। बल्लू बाबा कहीं से आ रहे थे। अरहर के खेत में से आवाज आई—‘बचाओ-बचाओ।’ फिर लगा कि कोई मुँह दबा रहा है। ‘कौन है रे?’ कहते हुए बल्लू बाबा खेत में घुस गए। कुछ दूर जाने के बाद उन्होंने देखा, चार-पाँच गुंडे एक औरत को पकड़कर खींच रहे हैं। उन्होंने पहचान लिया कि वह औरत अपने ही गाँव की हरिजन औरत बिंदिया है। ‘बचाओ बाबा, ये गुंडे मुझे पकड़े ले जा रहे हैं!’ मौका पाते ही वह चिल्लाई। बल्लू बाबा पाँचों पर पिल पड़े। धुनाई शुरू कर दी। लेकिन वे पाँच थे। एक ने मौका पाते ही उनके पेट में छुरा भोंक दिया और सब भाग चले। किंतु घायल होने के बाद भी वे एक को दबोचे रहे। बिंदिया ने अपना आँचल फाड़कर उनके घाव को बाँधा और शोर करती रही। संयोग से गाँव के दो आदमी उधर से आ रहे थे। वे लोग बल्लू बाबा को सहारा देकर गाँव तक ले आए। वे उस गुंडे को दबोचे ही रहे।”

“तो?”

“तो क्या, इतना खून बह गया था कि वे बच नहीं सके।”

“वाह, क्या मौत पाई बल्लू बाबा ने!”

“हाँ, लेकिन मूर्खों को बल्लू बाबा का खाना, तोता निकालना और सनक्कड़-पन के तमाम कारनामे ही याद रहते हैं। यह भी कहते हैं कि ‘बलुआ ने एक चमाइन के लिए जान दे दी। कुछ मामला रहा होगा’।”

“शायद अनिल के दिमाग में भी यही सबकुछ है। इसलिए बल्लू का नाती कहलाने में वह हीनता अनुभव करता है।” मैंने कहा।

“हो सकता है।” मंगल चाचा ने कहा।

“इसी प्रतिक्रिया में पूरे गाँव से नफरत करने लगा है और अधिक-से-अधिक शहरी और आधुनिक होने का स्वाँग कर रहा है। उसे कोई गाँव का न कह दे, इस बात के लिए वह बहुत सचेत हो गया है।”

“जाने दो फिसड्डी साले को!” कहकर मंगल चाचा चले गए।



पुरस्कार



मैं बनारस गया हुआ था।

वहाँ ज्ञात हुआ कि मेरे उपन्यास 'धरती की हँसी' पर एक विशिष्ट पुरस्कार मिलते-मिलते रह गया। यानी दिल्ली में घटित जो बात मुझे दिल्ली में नहीं ज्ञात हो पाती, वह बाहर जाने पर ज्ञात होती है। मैं तो उनमें से हूँ—'पूछता दिल्ली में आकर दिल्ली कितनी दूर है'। तो बनारस में मुझे ज्ञात हुआ कि यहाँ के एक स्वघोषित विद्वान् आलोचक (जो उस साल उस पुरस्कार के निर्णायकों में से थे) घोषित कर रहे थे—'अरे, मैं न होता तो शरदजी को यह पुरस्कार मिल गया होता।' कुछ लोग कुछ देकर गौरव अनुभव करते हैं, कुछ लोग छीनकर। जिसकी जैसी औकात होती है वैसा करता है।

मुझे थोड़ा बुरा तो लगा, किंतु कष्ट नहीं हुआ। कष्ट ही होता तो क्या मैं उसके निवारण का उपाय नहीं करता? मैं भी दिल्ली में हूँ और जानता हूँ कि पुरस्कार बिना जोड़-तोड़ के नहीं मिलता। अतः न पाने के कष्ट से ही गुजरना होता तो पाने के लिए प्रयत्नशील नहीं होता क्या?

किंतु पुरस्कार एक व्यक्तिगत प्रश्न नहीं है; यह एक साहित्यिक और सामूहिक समस्या है। सरकारी पुरस्कारों में जनता का पैसा लगा होता है। अतः पुरस्कारों के प्रति काफी निस्पृह होने के बावजूद मेरा मन इसकी समस्या में धँसता गया। तो पुरस्कार प्रायः प्रायोजित हो गया है। चाहे अर्थपूर्ण बड़े पुरस्कार हों, चाहे गली-कूचों से दिए जानेवाले टुटपूँजिया पुरस्कार हों—सभी अनेक प्रकार के समीकरणों और आग्रहों पर टिके हुए हैं। पुरस्कार पाने के बाद पुरस्कार प्राप्तकर्ता सामान्य लोगों की दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि सामान्यजन समझता है कि यह पुरस्कार सहज ही रचनाकार की उपलब्धियों पर मिला है। काश, सामान्य लोग जान पाते कि महत्त्वपूर्ण लगनेवाले लेखकजी ने उसे पाने के लिए कितनी तिकड़म की है, परदे के पीछे अपने को कितना छोटा

बनाया है, कितनी नाक रगड़ी है पुरस्कारदाताओं के आगे। उसे क्या इस बात का पता है कि कुछ महत्त्वपूर्ण लगनेवाले लेखक सुबह से शाम तक प्रायः सारी साहित्यिक, शैक्षिक और मीडियावादी संस्थाओं को दर्शन देते रहते हैं; प्रगतिशील छवि ओढ़े हुए, भीतर-भीतर हर विचारधारा की सरकारों के महत्त्वपूर्ण लोगों के दरबार किया करते हैं। इसलिए सरकारें तो बदलती हैं, किंतु हर सरकार में इन लेखकों की स्थिति जस-की-तस रहती है। ये इन सरकारों को यह जतवाने में कामयाब रहते हैं कि असली लेखक वे ही हैं। ये पुरस्कार तो पाते ही हैं, कमेटियों में भी ये ही रहते हैं, सांस्कृतिक शिष्टमंडलों में ये ही जाते हैं, सरकारी मौज-मस्ती में ये ही शरीक होते हैं।

काश, सामान्यजन को यह पता होता कि एक बड़ा सम्मान पानेवाला एक बड़ा कवि एक छोटी उम्र के एम.पी. के पैरों पर इसलिए गिर पड़ा था कि वह एम.पी. उस पुरस्कार समिति में था। वह धिधियाकर बोला था—“इस बार यह पुरस्कार मुझे दिला दो भाई, मेरी प्रतिष्ठा का प्रश्न है।” और उन्हें वह पुरस्कार मिला। सच पूछिए तो वे कवि उस पुरस्कार से बड़े थे, किंतु पुरस्कार पाने की इच्छा ने उन्हें कितना छोटा बना दिया।

काश, जनता यह भी जान पाती कि कैसे इस बात की कोशिश की जाती है कि कुछ लोगों को पुरस्कार नहीं ही मिले। वे लोग न समीकरण बनाते हैं, न चक्कर काटते हैं, न किसीके आगे धिधियाते हैं। वे अपने लेखन तथा पाठकों द्वारा उसकी स्वीकृति को ही पुरस्कार मानकर संतुष्ट होते रहते हैं। हाँ, पुरस्कार मिल जाए तो कोई नाटक नहीं करते, सहज भाव से ले भी लेते हैं। नाटक, हाँ नाटक! ये नाटक कई तरह के होते हैं। कुछ लोगों को लगता है कि घोषित पुरस्कारों में से उन्हें अपेक्षाकृत छोटा पुरस्कार मिला है तो वे बड़े नाटकीय अंदाज से मना कर देते हैं और अपने इनकार को सैद्धांतिक जामा पहनाकर बहस चलाते हैं, और अपने को चर्चा में ले आते हैं। विडंबना यह देखिए कि वे इस छोटे से साहित्यिक पुरस्कार को तो अस्वीकार कर देते हैं, किंतु किसी अपढ़ मंत्री द्वारा जातीय अनुग्रह के रूप में दिलाई गई बड़ी राशि का पुरस्कार चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं और लोगों के छेड़ने पर भी चुप रहते हैं। जब पुरस्कारों की छवि इतनी मलिन हो गई है, तब पुरस्कार पाने में गौरव अनुभव किया जाए या शर्मिंदगी?

क्या यह सब पाने और देनेवालों से मेरी औकात छोटी है। पाने के लिए जो नाक रगड़नी पड़ती है, उसके कष्ट से कई गुना बड़ा है वह सुख, जो पाने के लिए अवांछित उपायों से वंचित रहने से प्राप्त होता है। ऐसी स्थिति में आदमी

कुछ न पाकर स्वाभिमान से हँस तो सकता है।

दो घंटे बाद मैं दिल्ली लौट रहा था। कंपार्टमेंट में एक किनारे बैठा था। सामनेवाले किनारे पर मेरा एक पुराना शिष्य बैठा था, जो संयोग से स्टेशन पर मिल गया था। वह मुझसे साहित्यिक बातें कर रहा था। एकाएक मेरे पीछेवाले केबिन से एक आवाज मेरे शिष्य पर आ गिरी—“अरे, आप कब से साहित्य छूट रहे हैं; यह बताइए कि आपने ‘धरती की हँसी’ उपन्यास पढ़ा है?” शिष्य जोर से हँसा तो वह व्यक्ति उत्तेजित-सा हो उठा और बोला—“अरे, क्या मैं कोई विदूषिकी बात कह रहा हूँ कि आप हँसे जा रहे हैं, हँसे जा रहे हैं?”

शिष्य ने कहा कि “आप उस उपन्यास के लेखक से मिलना चाहेंगे?”

“अरे, मिलना क्यों नहीं चाहूँगा, लेकिन वे मिलेंगे कहाँ? हाँ, कभी दिल्ली जाऊँगा तो उनसे अवश्य मिलूँगा।”

“और उनसे यहीं मिला दूँ तो?”

“यहीं! अरे बाबा, आप जादू-मंत्र से उन्हें प्रकट करेंगे क्या?”

“हाँ, जादू जानता हूँ! आप मेरे पास आइए तो।”

“लीजिए, मैं आ रहा हूँ। देखता हूँ आपका जादू।”

जब वह आया तो शिष्य ने मेरी ओर इशारा करके कहा—“इन्हें जानते हैं?”

“नहीं, कभी देखा नहीं।”

“कभी नहीं?”

“ना, कभी नहीं।”

“अरे भाई, लेखक की किताब देखना ही तो उसे देखना होता है और आप अभी तो ‘धरती की हँसी’ को देखने की बात कर रहे थे।”

“अच्छा, तो आप हैं इस उपन्यास के लेखक। मेरे बड़े भाग्य!” और उसने लपककर मेरे पाँव छू लिये।

“अरे, आप यह क्या कर रहे हैं? बैठिए, बैठिए।”

वह मेरे शिष्य की बगल में बैठ गया और मुझे ध्यान से देखने लगा—
“अच्छा, तो यही हैं इस उपन्यास के लेखक!”

“आप क्या करते हैं?” मैंने पूछा।

“मैं बी.ए. में पढ़ता हूँ। मेरे पिताजी वकील हैं। पहले उन्होंने ही पढ़ा। फिर मुझसे कहा—‘यह उपन्यास जरूर पढ़ो।’ उन्होंने फिर कितनों को पढ़वाया। इस क्रम में उन्होंने गाँव के वकील और अपने मित्र राजीवजी को पढ़वाया। राजीवजी पढ़कर भड़क उठे। उन्हें इस उपन्यास के किसी पात्र में अपनी छाया

६० ❖ पुरस्कार

दिखाई पड़ी और पिताजी से बोले—‘मैं मानहानि का मुकदमा करूँगा।’ पिताजी ने उन्हें बहुत समझाया—‘आप नाहक हैरान होंगे, कोई केस नहीं बनेगा।’ फिर वे चुप रह गए।”

“अच्छा तो यह बात है! भाई, आंचलिक उपन्यासों के साथ दिक्कत यही है कि उनमें अपने परिवेश का सही चित्रण मिलता है और उसमें न जाने कितने जाने-पहचाने से चरित्र आते-जाते रहते हैं। इन चरित्रों के आधार किसी-न-किसी मात्रा में वास्तविक चरित्र होते हैं, किंतु वे सृजित किए गए रहते हैं। लेखक अपने अभिप्राय की सिद्धि के लिए एक चरित्र में न जाने कितने-कितने चरित्रों की छवि सम्मिलित करता है।”

“हाँ, यह तो है।”

मेरे साहित्य के बारे में वह ढेर सारी बातें करता रहा।

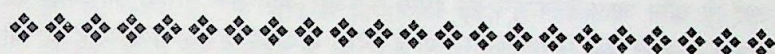
मैंने पूछा—“इस उपन्यास में ऐसी क्या खास बात लगी कि आप इतने अभिभूत हैं?”

“देखिए, साहित्यिक समीक्षा तो मैं नहीं कर सकता, लेकिन कह सकता हूँ कि इसे पढ़ते हुए मुझे लगता रहा कि मैं गाँव की असली जिंदगी देख रहा हूँ। यह मुझे बड़ा अपना लगा।”

जब वे लोग गाड़ी से उतरे और मैं अकेला हो गया तो मन प्रश्न करने लगा—‘बोलो, पुरस्कार किसे कहोगे? जिसे उस बनारसी विद्वान् की तिकड़म से नहीं पा सके उसे या जिसे इस पाठक के द्वारा सहज ही प्राप्त किया है?’

□

जहर



“दादाजी, चंद्रकांता पढ़ेंगी।” पोती ने कहा।

“पढ़ो बेटी, पढ़ना ही चाहिए; मगर एकाएक यह भाव मन में क्यों आया?”

“‘एकाएक’ आप क्यों कहते हैं? देख नहीं रहे हैं, इधर ‘चंद्रकांता’ सीरियल आ रहा है। इसे देखकर पुस्तक पढ़ने की इच्छा जाग पड़ी है।”

“लेकिन बेटी, एक कठिनाई है।”

“वह क्या, दादाजी?”

“वह यह कि चंद्रकांता उपन्यास तो देवकीनंदन खत्री का है, किंतु सीरियल वाला उपन्यास नीरजा गुलेरी का है।”

“लेकिन सीरियल में लेखक के रूप में देवकीनंदन खत्री का नाम तो आता है।”

“हाँ, नाम आता है, किंतु इस सीरियल में खत्रीजी का उपन्यास गायब है। जब तुम उनका उपन्यास पढ़ोगी तो उस उपन्यास और इस सीरियल के बीच की दूरी में भटक जाओगी। इस सीरियल को देखते हुए तुम्हें जो भी स्वाद या बेस्वाद आ रहा है, वह खंडित होने लगेगा। इसलिए फिलहाल यह उपन्यास न पढ़ो। नीरजा गुलेरी जो भी दिखा रही हैं, उसे देखो और भूल जाओ कि तुम किसी महान् रचना पर आधारित सीरियल देख रही हो। इतना ही याद रखो कि तमाम ऊलजलूल कथाओंवाले जो सीरियल इधर दिखाए जाते हैं, उनमें से यह भी एक है।”

मेरी पोती अपनी उम्र के लिहाज से ज्यादा ही सचेत है और इस मनोरंजन की भीड़भाड़, हो-हल्ला में उसके पास साहित्यिक रुचि भी है और इसीके तहत वह बार-बार सवाल करती है।

उसने फिर पूछा—“लेकिन दादाजी, किसीको यह अधिकार है क्या कि

६२ ❖ जहर

किसी साहित्यिक रचना को मनोरंजन के नाम पर इतना बिगाड़कर पेश करे?"

"अधिकार दो तरह के होते हैं—एक होता है कानूनी अधिकार, एक होता है नैतिक अधिकार। पैसे ने दोनों अधिकारों को धूमिल कर दिया है। कोई साहित्यकार जीवित है और उसकी कृति पर कोई ऊलजलूल धारावाहिक बनता है तो वह कानून से उसे रुकवा सकता है। वह नहीं है तो उसकी वंश-परंपरा का कोई व्यक्ति या कोई भी नागरिक कानून की शरण ले सकता है। लेकिन जब कृति पचास साल पुरानी हो जाए या लेखक के परिवारवालों को खूब पैसे मिल जाएँ तो कौन जाता है कानून की शरण में! और जहाँ तक नैतिक अधिकार की बात है, वह तो सिरे से गायब हो गया है। पैसा कमाओ, उसके लिए चाहे जो भी अनैतिक व्यवहार करना पड़े। सो नीरजा गुलेरी पैसे कमा रही हैं और पैसे दे-देकर मनचाहा स्क्रिप्ट लिखवा रही हैं।"

"आपको कैसा लगता है?"

"कैसा! अरे कोफ्त हो रही है।"

"फिर आप लोग इसके खिलाफ लिखते क्यों नहीं?"

"लिखा तो जा रहा है—लगातार। लेकिन हम लोगों के लिखने का क्या असर होने वाला है। जहाँ सारा खेल पैसे का हो, वहाँ कलम की कौन सुनता है? टी.वी.वालों और मंत्रियों को पैसे मिलते रहें, यह काफी है। और कोफ्त तो तब होती है जब कुछ लोगों के कुछ सीरियल बार-बार आते हैं और जब चाहते हैं, धारावाहिक को पीछे की ओर मोड़ देते हैं; यानी शुरू से दिखाना शुरू कर देते हैं। रामानंद सागर तो इस काम में उस्ताद हैं; दर्शक अपना माथा पीटें, बाल नोचें, गालियाँ दें, उनकी बला से।"

"हाँ दादाजी, बार-बार शुरू से सीरियल दिखाने का रोग तो बढ़ता ही जा रहा है। बड़ी बोरियत होती है।"

"यही फर्क है बेटे, नाटक के मंच और सीरियल मंच में। नाटक में कोई चीज अप्रिय लगती है, कोई बेहूदगी होती है तो दर्शक तुरंत रिएक्ट करते हैं और अपनी नाराजगी प्रकट करते हैं। अतः नाटक से संबंधित लोग दर्शकों की इच्छा का ध्यान रखते हैं; लेकिन सीरियल के मंच के आगे दर्शक बेचारा होता है; जो कुछ भला-बुरा दिखाया जा रहा है उसे झेलने के सिवा और कोई चारा नहीं होता। वह अपनी खीज, अपनी अप्रसन्नता, अपनी प्रतिक्रिया किससे व्यक्त करे? अतः वह अपना माथा पीटकर रह जाता है। यह तो बहुत बड़ा जुल्म है न!"

वह चुपचाप मेरी बात सुनती रही।

"दूरदर्शन तो शुद्ध व्यवसाय हो गया है, बेटे। और तिसपर तुरा यह कि

उसके अधिकारियों पर मन-मन-भर का अहंकार लदा रहता है। वे पैसे के आगे किसीकी सुनते ही नहीं। और बेटे, हम लोग तो ठहरे साहित्यकार। साहित्य के जरिए कुछ बात उठा सकते हैं; किंतु साहित्य की कौन सुनता है, कौन पढ़ता है! अब तो अखबारों के लेखन का कुछ असर होता है। वह हमारे हाथ में है नहीं। बहुत होगा तो वे हमारी चिट्ठी छाप देंगे। उसमें हम लगातार अपनी बात तो नहीं कह सकते। जिनके हाथ में अखबार है वे अपनी बात सुना सकते हैं, सुनाते रहते हैं; किंतु सत्ता के मद में डूबे लोगों पर इसका असर कहाँ होता है? वे तो 'कर लो जो करना हो' के भाव से टिप्पणियाँ पढ़ते हैं, हँसते हैं, फेंक देते हैं और अखबारवालों की आवाज में भी कहाँ इतना दम है जो उन्हें हिला सकें। वे तो पता नहीं कितने स्तरों पर उनके साथ जुड़े हुए हैं।"

मुझे लगा कि बात कुछ उबाऊ हो रही है। पोती से कहा—“जाओ बेटे, पढ़ो-लिखो, खेलो-कूदो, कहाँ पड़ गई इन सब पचड़ों में!”

वह हँसकर चली गई तो मैंने अपने को इस संदर्भ से काटकर शांत होना चाहा; मगर लगा कि वह संदर्भ हटा नहीं है। यह संदर्भ जो मुझे लगातार मथता आ रहा है, इतनी आसानी से जा सकता है क्या? यह एक स्थिति नहीं है, एक संदर्भ नहीं है, एक बड़ा सवाल है—मेरे लिए, समाज के लिए, देश के लिए; यानी पीढ़ियों के लिए।

क्या इन टी.वी.वालों को यह अधिकार है कि साहित्य-संस्कृति को या तो दरकिनार कर दें या विकृत रूप में पेश करें। मुझे याद है कि शुरू-शुरू में जब प्राइम टाइम पर हिंदी के कुछ उपन्यास दिखाए गए थे तो लोगों ने उन्हें बेहद पसंद किया था। लोगों में मूल उपन्यास पढ़ने की इच्छा जागी थी और उपन्यासों की बिक्री बढ़ गई थी। हमें लगा था कि दूरदर्शन का यह दृश्य-माध्यम अपने साहित्य को लोगों तक पहुँचाने में बड़ी सशक्त भूमिका निभा रहा है। आम दर्शकों ने शरच्चंद्र को जाना, प्रेमचंद को जाना, ताराशंकर बंद्योपाध्याय को जाना, भीष्म साहनी को जाना, रेणु को जाना, श्रीलाल शुक्ल को जाना, रामायण और महाभारत को जाना, और बहुत कुछ जाना। लेकिन कहाँ गए अब इस प्रकार के धारावाहिक? अब तो छापे हुए हैं वे धारावाहिक, जो पैसे देकर प्राइम टाइम को खरीदते हैं और न जाने कहाँ-कहाँ का कूड़ा-कचरा बटोरकर बढ़ते चले जाते हैं और पैसे बटोरते रहते हैं। उनकी कोई रचनात्मक इकाई नहीं होती। उनमें चाहे जितनी आलतू-फालतू कथा झोंकी जा सकती है और दर्शकों के सत्यबोध तथा सौंदर्यबोध को तृप्त करने के स्थान पर उनके भीतर भोंड़े मनोरंजन की प्यास जगाई जाती है और उनके मानवीय संस्कार को परिमार्जित करने के स्थान पर

६४ ❖ जहर

फूहड़ बनाया जाता है।

अब तो साहित्यिक कृतियों पर धारावाहिक या तो पास नहीं होते, या होते हैं तो न जाने दिन या रात के किस समय में उन्हें फेंक दिया जाता है कि उनके आने-जाने का किसीको पता ही नहीं चलता। नई पीढ़ियाँ तो न जाने कितना जहर पी रही हैं इस शरबत के बहाने। वे न जाने क्या-क्या सीख रही हैं! कहाँ ले जाएगा यह परिदृश्य इस भावी मनुष्यता को? यह सवाल रह-रहकर डंक मारता है।



शिक्षा



मेरे मामाजी एक जमींदार के यहाँ कारिदा थे। मैं दशहरे की छुट्टियों में वहाँ गया हुआ था। तब मैं बी.ए. का विद्यार्थी था। दोपहर का समय था, मैं मामाजी के साथ ही जमींदार के बरामदे में बैठा हुआ था। तब तक जमींदार साहब भी आ गए और अपने लिए सुरक्षित आरामकुरसी पर अपना सारा शरीर फेंककर बैठ गए।

जमींदार प्रतापसिंह ने मेरी ओर जिज्ञासा-भरी दृष्टि से देखा तो मामाजी बोल पड़े—“सरकार, यह मेरा भानजा है, हिंदू विश्वविद्यालय में पढ़ता है। छुट्टियों में आया हुआ है।”

“वेरी गुड, आई एम वेरी हैपी टू सी यू मिस्टर……”

“कौशल किशोर,” मैंने कहा।

“हाँ, मिस्टर कौशल किशोर……।”

“सरकार, मेरा भानजा बहुत अच्छी कविताएँ लिखता है।” मामा ने कहा। किंतु मैं सकुचा गया।

“अच्छा-अच्छा, आप कवि भी हैं। यह तो बहुत अच्छी बात है। मुझे तो कविता का बड़ा शौक है। देखना चंद्रभान, यहाँ कविजी को कोई कष्ट न हो।”

“शौक?” मैं मन-ही-मन भुनभुनाया। हाँ, इन्होंने ठीक ही कहा कि इन्हें शौक है। जैसे जमींदारों को तमाम चीजों का शौक होता है वैसे कविता का भी शौक ही होगा न! कविता का रस, कविता की संवेदना, कविता का मर्म ये क्या समझें। मैं मन-ही-मन सोच रहा था कि प्रतापसिंह बोले—“कोई कविता सुनाइए न, कविजी! कपि की ममता पूँछ पर।”

वे हँसे तो दरबारी भी हँस पड़े, मामाजी भी हँस पड़े; किंतु मुझे हँसी नहीं आई।

“सुना दे न बेटा, सरकार को कोई कविता!”

मैं बहुत पशोपेश में था। मेरी अधिकांश कविताएँ तो किसानों और मजदूरों

की गरीबी और संघर्ष पर हैं। उन्हें ये क्या पसंद करेंगे? और न सुनाओ तो इनकी अवमानना होगी, खासकर मामाजी की स्थिति खराब होगी। मैं सोचने लगा, यहाँ क्यों आया? यहाँ का माहौल तो अजीब फूहड़ लग रहा है।

“हाँ तो सुनाइए, कविजी!”

मुझे याद आ गया अपना एक करुण गीत, जिसमें एक पंछी समुद्र के ऊपर भटक गया है और अपने बच्चों की याद से विह्वल हो रहा है। न जाने किनारा कहाँ है, वह वहाँ पहुँचे कि न पहुँचे। बच्चे घोंसले में से झाँक रहे होंगे। नहीं पहुँचा तो उनका क्या होगा।

मैं अपना गीत गाकर पढ़ रहा था और देखा, बाबू साहब उसके रस में डूबते हुए—से लग रहे थे और बीच-बीच में ‘वाह-वाह’ कर रहे थे। उनकी देखा-देखी या समझकर दरबारी लोग भी रसमग्न दिखाई पड़ रहे थे।

“कहाँ रह गया था, साला?” बाबू साहब की कर्कश आवाज से मैं चौंका और कविता जहाँ-की-तहाँ बिखर गई।

मैंने देखा, एक नौकर जैसा युवक (बाद में ज्ञात हुआ कि वह बाबू साहब का खवास था।) बाबू साहब की ओर आ रहा है। जैसे ही आकर उसने उनके पाँव छुए, वे आरामकुरसी से उठ गए और उसे पटककर अपनी बेंत से मारने लगे। मारते गए, मारते गए, किसीकी हिम्मत नहीं कि कुछ कहे। मैं तो भीतर-भीतर चीत्कार कर उठा। मेरी आँखों में क्रोध देखकर मामा ने मेरी उँगली दबाई और धीरे से कान में कहा—“कुछ बोलना नहीं।” बाबू साहब चीखते जा रहे थे—“दो दिन की छुट्टी माँगी थी, पाँच दिन कहाँ लगा दिए?”

खवास पिट रहा था, कुछ बोल नहीं पा रहा था। तब तक उसका बाप रोता-चिल्लाता हुआ आया—“अरे बबुआ, आप यह क्या कर रहे हैं? आप यह क्या कर रहे हैं?” वह आकर अपने बेटे के ऊपर लेट गया और वह भी पिटने लगा; किंतु लगा कि बेटे को बचा पाने का एक संतोष उसके पिटने को अर्थ दे रहा था। बाबू साहब फेंचकुर फेंकने लगे थे। उनकी मोटी थुलथुल काली काया हाँफने लगी थी। फिर अपने आप उनके हाथ रुके।

सभी लोग स्तब्ध थे। अच्छा किसीको नहीं लग रहा था, किंतु ऐसे वक्त बाबू साहब को टोकने का रिवाज नहीं था।

“आप मालिक हैं, सरकार! अन्नदाता हैं, सरकार! जो चाहे, कर लीजिए, लेकिन पहले हमारी बात तो सुन लेनी चाहिए थी।” बाप कहे जा रहा था—“बेटे ने सोचा था, आज जाएगा और अपनी बहन को देखकर कल चला आएगा। लेकिन जब वहाँ गया तो मालूम पड़ा कि बहन की हालत बहुत खराब है। एक

दिन और रुक गया। तीसरे दिन बेटी मर गई। वह कैसे चला आता। दो-एक दिन वहाँ ठहरना ही पड़ा। बेटा लौटकर आपके पास आया तो आपने बिना पूछे-ताछे ही उसे धुनना शुरू कर दिया। बेटी तो गई ही, लगता था, बेटा भी चला जाएगा।” कहकर बाप ने बेटे के घावों को देखा और अहक-अहककर रोने लगा।

स्थिति बाबू साहब की समझ में आ गई थी। इसलिए चुप रह गए और मामा से कहा—“इसे पैसे दे दो, जाकर अपनी दवा-दारू कराए।”

बाबू साहब की नजरें मुझसे मिलीं। मेरी आँखों में अपने प्रति खिन्नता और अप्रियता शायद पढ़ ली।

हँसकर बोले—“और कविजी! कब तक यहाँ रहना है?”

“आया तो था दस-पाँच दिन के लिए, लेकिन कल चला जाऊँगा।”

“क्यों-क्यों? यहाँ कुछ दिन रुकिए। सोचता हूँ, दीवाली के अवसर पर एक कवि-सम्मेलन कराऊँ। आपसे सलाह-मशविरा करना है।”

“जी, बहुत अच्छा खयाल है आपका।”

वे उठकर अंदर चले गए और मैं मामाजी की कोठरी में चला गया।

शाम को मैं मामा के साथ घूमने खेतों की ओर चल पड़ा। मैं उस घटना के बाद स्तब्ध-सा हो गया था। रास्ते में मामा ने ही छेड़ा—“बड़ा जालिम आदमी है यह। नौकरी की मजबूरी है, नहीं तो यहाँ यह सबकुछ सहा नहीं जाता।”

“लगता है, इसे कोई पंडित नहीं मिला।” मैंने कहा।

“पंडित? कैसा पंडित?”

“मुझे एक कहानी याद आ रही है, मामा। एक पंडितजी थे। वे अपने आश्रम में बच्चों को पढ़ाते थे। उनमें एक राजकुमार भी था। जब राजकुमार की पढ़ाई खत्म हो गई तो पंडितजी ने राजकुमार से कहा—‘अब आपकी पढ़ाई पूरी हो गई है, कल आप अपने घर लौट सकते हैं।’ दूसरे दिन राजकुमार ने बिदा लेने के लिए जैसे ही पंडितजी के पाँव छुए, पंडितजी ने कहा—‘लेकिन राजकुमार, एक शिक्षा अभी शेष रह गई है।’ उन्होंने अपना बेंत उठाया और सपासप दस बेंत राजकुमार की पीठ पर बरसा दिए। राजकुमार तो अचेत हो गए। उन्हें चेत आने पर पंडितजी ने उन्हें अपने शिष्यों द्वारा राजदरबार में भिजवा दिया। राजदरबार में हाहाकार मच गया। ‘अरे, पंडित की यह मजाल कि राजकुमार को बेंत से पीटे! पकड़ लाओ उसे।’

“पंडितजी जानते थे कि यह होगा, इसलिए वे लापता हो गए। उन्हें बहुत ढूँढ़ा गया, लेकिन वे नहीं मिले। जब उन्हें लगा कि अब राजदरबार की उत्तेजना

शांत हो गई होगी तो वे स्वयं वहाँ छद्मवेश में प्रकट हुए। वहाँ पहुँचे तो देखा कि राजदरबार में एक किसान लगान न दे पाने के जुर्म में बाँधकर लाया गया है और राजा उसे बेंत से मार रहा है। राजकुमार हर बेंत की मार पर थोड़ा सिहर उठता है। जब दसवाँ बेंत लगा तो राजकुमार चिल्ला उठा—‘बस कीजिए, पिताजी!’ और काँपने लगा। पंडितजी ने खुशी से ताली बजाई—‘शाबाश, शाबाश राजकुमार!’

“सबने चौंककर पंडितजी को देखा और राजा गुस्से से पूछ बैठा—‘कौन हैं आप? और यह क्या शाबाश-शाबाश लगा रखी है?’ पंडितजी ने अपना छद्मवेश उतारते हुए कहा—‘मैं वृषभान पंडित हूँ, आपके पुत्र का गुरु।’

“‘अच्छा-अच्छा, तुम हो। तुम्हींने मेरे पुत्र को बेंत से मारा था। तुमने यह हिमाकत कैसे की थी, क्यों की थी?’

“‘क्यों की थी, आप राजकुमार की आज की हरकत देखकर भी नहीं समझे? आपने मुझे इन्हें शिक्षा देने का दायित्व सौंपा था। मैंने इन्हें शिक्षा दी। बेंत से मारना भी उसी शिक्षा का अंग था। मैं जानता था कि राजकुमार कल राजा बनेंगे और प्रजा को दंड देंगे। दंड देते समय उन्हें याद रहे कि बेंत की मार कैसी पीड़ादायक होती है, इसलिए मैंने उस पीड़ा का अनुभव उन्हें कराया था।’

“राजा जब तक कुछ कहें, राजकुमार आगे बढ़कर पंडितजी के चरणों पर गिर पड़ा—‘क्षमा कीजिए गुरुवर, मैंने आपकी शिक्षा के रहस्य को समझने में भूल की। आपने पर-पीड़ाबोध की जो शिक्षा मुझे दी थी, उसका अनुभव मैंने आज कर लिया।’ ” मैंने कहानी समाप्त की।

“अरे छोड़, बेटे! अब न वे गुरु हैं, न शिष्य। अब तो ये बातें किस्से-कहानियाँ लगती हैं।” कहकर मामा उदास हो गए। फिर देर तक कुछ बोले नहीं।

□

माँ



पड़ोस में हाहाकार मचा था। दो छोटे बच्चों को छोड़कर माँ चली गई। लोग आपस में दुःखी-से चर्चा कर रहे थे—“हाय, क्या होगा अब इन बच्चों का ? कौन सँभालेगा ?”

दोनों बच्चे बाप के पास निस्तब्ध-से खड़े थे। एकाएक “माई रे, तू मुझे छोड़कर कहाँ चली गई ?” कहती हुई दस वर्षीय बेटी माँ के शव पर भहरा पड़ी।

अजब दर्दनाक माहौल था। पिता ने बेटी को उठाते हुए सीने से लगा लिया और सिसकते हुए कहा—“न रो बेटी, अभी तो तेरा बाप जिंदा है। आज से मैं ही तुम लोगों का बाप हूँ, मैं ही माँ हूँ। अपने को अनाथ मत समझो, मेरे बच्चो।”

शवयात्रा के बाद घर लौटा तो मन बड़ा खिन्न था। दोनों बच्चों की असहायता का चित्र मेरी आँखों में उतरा रहा था। लोगों की टिप्पणियाँ मेरे कानों में गूँज रही थीं—‘कुछ भी हो, माँ माँ होती है। बाप कितना भी करे, उसका स्थान कहाँ ले सकता है ? वह ममता इन बच्चों को कहाँ मिलेगी जो माँ के हृदय से फूटती है और बच्चों को अपनी ऊष्मा में समेट लेती है, जो जीवन को भराव देती है। और यदि बाप ने दूसरी शादी कर ली तो एक दूसरी मुसीबत खड़ी हो जाती है।’

मुझे याद आई अपनी माँ। जब मैं चालीस साल का था तो मेरी माँ का स्वर्गवास हो गया था। पिताजी जीवित थे। माँ के क्रियाकर्म के बाद मैं अपने दोनों बड़े भाइयों के साथ गाँव से बाहर निकल रहा था कि एक औरत की आवाज हमारे कानों से टकराई—‘बेचारे टूअर (अनाथ) हो गए।’ हम भाइयों ने आपस में देखा और सचमुच लगा कि इतना वयस्क तथा अच्छे-अच्छे पदों पर आसीन होने के बावजूद हम बहुत खाली हो गए हैं। पिताजी अभी जीवित हैं तो भी लगता है, हम टूअर हो गए।

पिता पिता होता है, माँ माँ होती है। मुझे याद आया अपने बचपन का एक

७० ❖ माँ

संदर्भ। तब मैं दस-बारह साल का रहा हूँगा। माँ कुछ दिनों के लिए अपने मायके जा रही थी। माँ से पहला बिछोह और वह भी महीने-भर का। उसके जाने से पहले कई रातों में मैं छिप-छिपकर रोया। एक अहक, एक हूल मेरी छाती में भर गई। और जिस सुबह उसे जाना था, उस रात को तो मैं माँ के आँचल में मुँह छिपाकर इतना रोया कि माँ का आँचल भीग उठा। उसने रोते हुए मुझे समझाया—‘मत रोओ बेटे, मैं जल्दी ही आ जाऊँगी। वहाँ जरूरी काम से जाना पड़ रहा है। इधर तुम्हारी पढ़ाई-लिखाई का हर्ज होगा, नहीं तो तुम्हें भी साथ ले चलती।’

माँ चली गई। मैं कई दिन तक रोता रहा, छिप-छिपकर अहकता रहा। बड़े भाई साहब पढ़ने के लिए शहर चले गए थे। घर पर मैं था, मेरे मझले भाई थे और पिताजी थे। पिताजी के मन में हमारे लिए बड़ा मोह रहा है। वे स्वभाव से ही भावुक थे। उन्होंने कभी भी हमारे ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया था; लेकिन वे थे विचित्र स्वभाव के। वे उदार होते हुए भी अजीब ढंग से कंजूस थे। वे हमें मेले-हटिए में बड़े उत्साह से ले जाते थे और मेले के लिए कुछ पैसे देते थे, किंतु जब भी हम कहते कि इन पैसों का कुछ ले दीजिए तो कहते—‘अभी नहीं, थोड़ी देर बाद।’ हम समझ नहीं पाते कि वे क्यों ‘अभी नहीं, अभी नहीं’ कहते रहते हैं। कई बार हम बिना कुछ खरीदे ही पैसे लिये वापस आ जाते। सो माँ की अनुपस्थिति में उनकी इस विचित्र कंजूसी का निर्बाध व्यापार चलता रहा। खाना शाम को ही बनाते, वह भी इतना कि कभी पेट नहीं भरता। दोपहर को प्रायः उवली हुई शकरकंदी से ही काम चलता। शकरकंदी अपने खेत की थी। वे मोटी-मोटी शकरकंदियाँ बचाकर रख रहे थे और पतली उवालते थे। माँ के अभाव के दर्द को पिताजी द्वारा पैदा किया गया अभाव और भी गहरा बना रहा था। बाहर-भीतर एक सीलन-भरा सन्नाटा छाया हुआ था। माँ को याद कर-करके मैं रोता रहता था। रात में जब नींद टूटती थी तो हवसने लगता था। मझले भाई मुझे गोदी में चिपका लेते थे।

महीने-भर बाद, जिस दिन माँ को लौटना था, मेरी प्रसन्नता की सीमा नहीं थी। माँ शाम को घर पहुँची। मझले भाई ने लपककर माँ को पकड़ लिया। मैं उसके पास नहीं गया। कोने में छिपकर रो रहा था। माँ ने पूछा—‘कहाँ है मेरा केसू?’

‘अरे कहाँ गया? अभी तो था।’

तब तक मेरे हवसने की आवाज सुनाई पड़ी। माँ लपकी हुई आई और मैं चिल्लाकर रो पड़ा। उसने जोर से छाती में भींच लिया।

जब भावों का तूफान थमा तो माँ ने अपनी गोद से अलग किया और एक बार फिर मुझे देखा, एक बार मोहन भाई को।

‘अरे, यह क्या हो गया मेरे बेटों को? हड्डियाँ निकल आई हैं, गाल पिचक गए हैं, आँखें धँस गई हैं, देह पीली पड़ गई है।’

यह सुनकर मोहन भैया तो शांत रहे, मैं फफकने लगा।

माँ अपने साथ राब सना सत्तू लाई थी, निकालकर दिया और मैं खाने लगा; लेकिन माँ ने पिताजी को ललकारा—‘क्यों, क्या तुम इन बच्चों को खाने को नहीं देते थे? क्या इसीलिए इन्हें छोड़ गई थी?’

‘यह कैसी बात करती हो, इन्हें खाने को क्यों नहीं देता था!’

‘खाने को देते तो इनका यह हाल होता? क्यों बेटे, तुम लोग भरपेट खाने को पाते थे?’ मोहन भैया फिर चुप रहे, लेकिन मैं फिर हबसने लगा।

माँ तेजी से उठी। उसने अपने द्वारा रखा गया चावल देखा, आटा देखा, दाल देखी और गुस्से तथा अमर्ष से चीखती हुई बोली—‘जाते समय महीने-भर का सामान रख गई थी, ताकि मेरे बच्चों और आपको कोई तकलीफ न हो; लेकिन दस-बारह दिन का ही सामान खर्च हुआ है। आपने तो मेरे बच्चों को भूखा ही मार दिया। आप बाप हैं कि कसाई!’ माँ रोने लगी।

‘हाँ-हाँ, कसाई हूँ। बच्चे तुम्हारे ही हैं न, मेरे थोड़े हैं! आते-ही-आते लड़ाई शुरू कर दी।’ वे झल्लाकर बाहर चले गए और माँ अपने साथ लाई हुई चीजें हमें खाने को देकर बार-बार गोद में भींच ले रही थी और रो-रोकर कह रही थी—‘अब तुम्हें छोड़कर कभी नहीं जाऊँगी मेरे बच्चों!’

फिर पड़ोसी के अनाथ बच्चे मेरी आँखों में भर आए थे, जिनकी माँ उन्हें हमेशा के लिए छोड़कर चली गई।



विनम्रता



उनके पास पहुँचा ही था कि धधाकर बोले—“आइए-आइए, धन्य भाग मेरे कि आप आए! आप तो मुझे भूल ही गए हैं।”

“अरे कैसी बात करते हैं, डॉ. दिनेश, आप कोई भूलने की चीज हैं! आप मेरे मित्र तो हैं ही, अपने आपमें इतने आकर्षक व्यक्ति हैं कि मैं तो क्या, कोई भी खिंचा चला आए। फिर आप तो हिंदी की इतनी सेवा कर रहे हैं कि हम लोगों के लिए गर्व की बात है। इतने बड़े अफसर और साहित्य-सेवी होने पर भी आप कितने विनम्र हैं!”

“अरे रे, आप लगे न मुझको बनाने।”

“नहीं भाई, आप तो स्वनिर्मित हैं, मैं क्या बनाऊँगा!”

वे हँसे और घंटी बजाई। चपरासी आया तो आदेश दिया—“अरे देखता नहीं है, इतने बड़े आदमी आए हैं, कुछ ठंडा-गरम ले आओ, और जल्दी ले आओ।”

फिर कुछ क्षण बाद वे बोले, “आपने मेरा नया उपन्यास पढ़ा, भाई साहब?”

“कौन-सा?”

“अरे लीजिए, उसका डंका बज रहा है और आप पूछते हैं, कौन-सा! अरे ‘चक्रवात’।”

“चक्रवात? हाँ, चक्रवात। पिछली बार आपने ही बताया था कि कोई महान् उपन्यास आपने पूरा किया है और वह छप रहा है। छप गया क्या?”

“छप गया! अरे उसपर कितने लोगों की सम्मतियाँ आ चुकीं।” उन्होंने अपनी दराज से एक छपी हुई बुकलेट निकाली और मेरे सामने रख दी।

मैं देखता रहा। इसमें डॉ. दिनेश की डिग्रियाँ, उनकी हिंदी सेवा, उनकी पुस्तकों की सूची, पुरस्कारों और सम्मानों की सूची तो थी ही, तमाम सरकारी

और साहित्यिक हस्तियों की अनुशंसाएँ भी थीं।

“यह बुकलेट तो आपने मुझे पिछली बार भी दी थी। उससे पिछली बार भी दी थी।”

“दी होगी, याद नहीं, लेकिन यह थोड़ी भिन्न है। इसमें मेरे उपन्यास ‘चक्रवात’ पर लोगों की सम्मतियाँ भी हैं और कुछ और नवीनतम उपलब्धियों का उल्लेख भी है।”

“अच्छा-अच्छा, बहुत अच्छा!”

“उपन्यास पूरा होने के बाद मैंने इसे अनेक आलोचकों और साहित्यकारों से पढ़वाया था। उन लोगों ने मुक्त कंठ से सराहना की। कुछ ने तो कहा—‘यह क्लासिक उपन्यास सिद्ध होगा। इसने तो ‘गोदान’ को भी पीछे छोड़ दिया है’।”

“सचमुच! अरे यह तो बहुत खुशी की बात है। नई पीढ़ियाँ अपने पूर्वजों की परंपरा का विकास करें, इससे अधिक सुखद बात क्या हो सकती है!”

मनोरंजन की सीमा पार हो गई थी। अब मैं मन-ही-मन ऊबने और कुढ़ने लगा था। यह व्यक्ति आत्मश्लाघा छोड़कर और कोई बात ही नहीं करता। फिर भी कुछ ऐसा है कि इधर आने पर यहाँ चला ही आता हूँ।

“मेरी इच्छा थी कि यह उपन्यास छपने से पूर्व आपकी नजर से भी गुजरे; किंतु प्रकाशक जल्दी में था और पांडुलिपि आप तक पहुँच नहीं पाई। आप व्यस्त भी तो बहुत रहते हैं।”

“अच्छा ही हुआ।” मन की बात एकदम जुबान पर आ गई।

“हाँ, अच्छा ही हुआ, आपको मेरी चीजें देखने की फुरसत कहाँ!”

“नहीं-नहीं, आप गलत समझे। मेरा मतलब यह था कि छपने से पूर्व हर आदमी अपनी राय देनी शुरू करे तो पांडुलिपि कभी पूरी ही न हो। अब पढ़ूँगा।”

“मुझे अच्छा लगेगा। देखिए, इतनी व्यस्तता में मैं लिख लेता हूँ तो मित्रों का यह फर्ज तो बनता ही है कि मुझे सहारा देते रहें। यहाँ तो दिन-रात लड़ाई, दिन-रात लड़ाई, अंग्रेजीपरस्त लोग हिंदी को खा जाना चाहते हैं। मैंने अपनी विभागीय पत्रिका ‘अंतरिक्ष’ को थोड़ा-सा साहित्यिक रूप दिया तो वे सब मेरे पीछे पड़ गए। कहते हैं, विभागीय पत्रिका में साहित्य का क्या स्थान? एक तो हिंदी पत्रिका की कोई आवश्यकता नहीं थी। और निकली भी तो साहित्य की क्या जरूरत? पत्रिका को ही बंद कर दिया जाए। लेकिन आपका यह अनुज भी हारनेवाला व्यक्ति नहीं है। उसने मंत्रियों से लड़-झगड़कर पत्रिका को तथा उसके इस रूप को जिलाए रखा। अब आप लोगों से एक ही प्रार्थना है कि मंत्री महोदय

के पास पत्र लिखकर मेरे कामों की सराहना करते रहें। यह हिंदी और उसकी अस्मिता की रक्षा का सवाल है।”

“निश्चय ही, निश्चय ही। अरे, आप तो हिंदी की अस्मिता के पर्याय बन गए हैं। अच्छा, अब चलूँ।”

तब तक चपरासी आया और उसने एक चिट दी।

“अरे, बुलाओ-बुलाओ उन्हें।”

वे आए तो डॉ. दिनेश ने बहुत उत्साह से उनका स्वागत किया और मुझसे पूछा—“आप लोग परिचित नहीं हैं क्या?” हम दोनों ने एक-दूसरे को पहचानने की कोशिश की। तब तक दिनेशजी स्वयं बोल उठे—“अरे, ये हिंदी के वरिष्ठ लेखक आकाशजी हैं।”

मेरा नाम सुनते ही वे सज्जन मेरी ओर लपके और हाथ जोड़ते हुए बोले—“अरे, मेरे धन्य भाग कि आपके दर्शन हुए!”

“और ये हैं प्रोफेसर निशाकांतजी।”

“अच्छा-अच्छा, आप निशाकांतजी हैं! माफ कीजिए, आपकी कुछ चीजें देखी तो हैं; किंतु मिलने का सौभाग्य आज ही मिला।”

वे रह-रहकर मेरी तथा दिनेशजी की बड़ाई करते रहे। ऊबकर थोड़ी देर बाद मैं उठ आया और सोचने लगा कि निशाकांतजी का मैंने क्या पढ़ा है, कहाँ पढ़ा है और ये प्रोफेसर किस विश्वविद्यालय में हैं? धीरे-धीरे याद आया कि ये संत फकीरचंद यूनिवर्सिटी के एक कॉलेज में प्रवक्ता हैं और दिनेश की पत्रिका ‘अंतरिक्ष’ में उनके कुछ लेख देखे हैं—मसलन ‘नेपाल में हिंदी’, ‘मैं इनसे मिला’, ‘हिंदी कविता में होली’ आदि। ‘मैं इनसे मिला’ में प्रायः नेताओं से भेंटवार्ता रहती है। इसके साथ ही दिनेशजी की कुछ पुस्तकों की यशोगान टाइप समीक्षाएँ इन्होंने लिखी हैं। कुछ तो ‘अंतरिक्ष’ में ही छपी हैं, कुछ-कुछ इसी प्रकार की पत्रिकाओं में। मुझे हँसी आई, क्या जोड़ी है—एक दिनेश है, दूसरा निशाकांत! को घटि ये वृषभानुजा, ये हलधर के वीर।

दिनेशजी ने ‘चक्रवात’ पर खूब गोष्ठियाँ कराईं। एकाध में मुझे भी जाना ही पड़ा। वक्ताओं ने ‘चक्रवात’ के साथ प्रेमचंद और उनके ‘गोदान’ को बार-बार घसीटा। आनंद लेनेवालों ने आनंद लिया। दुःखी होनेवाले दुःखी हुए, जय-जयकार करनेवाले न सुखी हुए, न दुःखी, बस जय बोलते रहे। मैं बहुत प्रसन्न था कि मुझे कभी इस उपन्यास पर बोलने को नहीं कहा गया, नहीं तो दोस्ती और जमीर में संघर्ष छिड़ जाता; लेकिन वह क्षण आ ही गया—एक दूसरे प्रकार से।

मैं फकीरचंद यूनिवर्सिटी में शोध-समिति का सदस्य था। उस दिन उसकी

बैठक हो रही थी। बैठक में मैं था और समिति के अध्यक्ष तथा एक अन्य स्थानीय प्रवक्ता थे। चौथे बाहरी विशेषज्ञ अभी आए नहीं थे। उस दिन पी-एच.डी. के विषयों में एक विषय था—‘चक्रवात’ और ‘गोदान’ का तुलनात्मक अध्ययन। मैंने चौंककर उसकी सिनॉप्सिस देखी तो ज्ञात हुआ कि सारी बहस ‘चक्रवात’ पर होगी, अंत में ‘गोदान’ से तुलना कर दी जाएगी। मैंने यह विषय अस्वीकार कर दिया। आगे बढ़ा और एक दूसरे विषय की उपयुक्तता और उसकी सिनॉप्सिस की पहचान में खोया था कि लगा, अध्यक्षजी किसीसे बात कर रहे हैं। जब बातचीत कुछ गरमाने लगी तो मेरा ध्यान गया। मैंने अध्यक्षजी से पूछा—“क्या है?” तब तक उन सज्जन ने मुझे नमस्कार किया और मुसकराने लगे। मैंने अध्यक्षजी से कहा—“यदि कोई व्यक्तिगत बात करनी हो तो आप लोग उधर सोफे पर बैठ जाइए और यदि बात शोध संबंधी हो तो मुझे भी शरीक करना चाहिए।”

“नहीं, बात तो शोध संबंधी ही है। ये पूछने आए हैं कि ‘चक्रवात और गोदान’ वाला विषय स्वीकृत हुआ कि नहीं। मैंने अस्वीकृति की सूचना दी तो बहस कर रहे हैं। ये उसके गाइड हैं।”

“पहली बात तो यह है कि किसीको भी समिति की बैठक में आकर अपने विषय पर बहस करने का नियम नहीं है, फिर यदि बहस होनी ही है तो हम सबसे होनी चाहिए।”

वे सज्जन दुःख-भरे स्वर में बोले—“आकाशजी, लगता है, आप मुझे पहचान नहीं रहे हैं। अरे मैं तो निशाकांत हूँ न। दिनेशजी के यहाँ आपके दर्शन हुए थे।”

“हाँ, याद आया। माफ कीजिए, मेरी स्मृति बहुत कमजोर है। एक बार की भेंट से मैं व्यक्ति को याद नहीं रख पाता।”

वे हँसे और शायद उन्हें लगा कि अब उनका काम बन जाएगा।

“मगर आपने यह विषय दिया क्यों? यह विषय बनता है क्या?”

“हाँ, क्यों नहीं? दोनों का विषय किसान जीवन है। दोनों के नायकों का नाम होरी है।”

“बस तुलना के लिए इतना ही काफी है? आपको नहीं लगता कि ‘गोदान’ एक कालजयी कृति है, जिसने एक लंबा समय पार कर अपनी महत्ता स्थापित की है; और दूसरा उपन्यास अभी कल पैदा हुआ है, पता नहीं वह सालजयी भी होगा कि नहीं! दो चीजों की तुलना के लिए केवल विषय-साम्य आवश्यक नहीं है, दोनों की उपलब्धियों में भी बराबर का वजन होना चाहिए।”

“अरे आकाशजी, आपको तो पता है कि तमाम वरिष्ठ लोगों ने इस

उपन्यास के आते ही इसकी महत्ता की पहचान कर ली। इसपर तमाम गोष्ठियाँ हुई, इसकी धूम मची हुई है और आपको इसकी उपलब्धि में संदेह हो रहा है।” देखा कि निशाकांतजी की छद्म विनम्रता व्यावसायिक असफलताजन्य उद्वेग में बदल रही है। उनकी वाणी में रोष आ गया था।

मैं मुसकराया। बोला—“देखिए निशाकांतजी, दिनेशजी मेरे भी मित्र हैं, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि मैत्री के नाम मैं अपना जमीर गिरवी रख दूँ। ‘प्रेमचंद’ रोज-रोज नहीं पैदा होते। वे हमारे कथा साहित्य के शिखर-पुरुष हैं। ‘गोदान’ से ‘चक्रवात’ की तुलना कराकर मैं उनका अपमान नहीं कर सकता। चक्रवात को जरा समय की मार सहने दीजिए। यदि वह कुछ थपेड़े झेल जाए तो फिर देखा जाएगा। इतनी जल्दी क्या है!”

“पर....”

मैंने अध्यक्षजी को संबोधित कर कहा—“भाई, आगे चलो, बहुत समय चला गया।”

हम दूसरे आवेदन पत्रों में उलझ गए। निशाकांतजी कुछ देर बैठे रहे और फिर चुपके से उठकर चल दिए। बड़बड़ाते गए—“लोग कुरसी पर क्या बैठ जाते हैं, अपने को खुदा समझ लेते हैं।”

कुछ दिनों बाद एक साहित्यिक समारोह में चाय पीते समय दिनेशजी मिल गए। उन्होंने मुझे देखकर भी आँख चुरानी चाही, किंतु मैंने लपककर उन्हें नमस्कार किया। उन्होंने बहुत मरा-सा नमस्कार मेरे ऊपर फेंक दिया।

“कैसे हैं, दिनेशजी?” मैंने पूछा।

“दोस्तों की मेहरबानियों के बावजूद जिंदा हूँ। अरे दोस्त लोग समझते हैं कि उनका मुझसे कोई काम ही नहीं पड़ेगा।”

“अरे भाई, क्यों नहीं पड़ेगा! आपके पास तो इतना अच्छा पारिश्रमिक देने वाली ‘अंतरिक्ष’ पत्रिका है। जिन्हें पारिश्रमिक लेना होता है, वे आपके पास दौड़ते ही हैं और आपके साहित्य के लिए लड़ाई भी लड़ते हैं। आप बड़े अफसर हैं, लोगों को तरह-तरह से अनुगृहीत करते रहते हैं; और लोग आपके अनुग्रह का मूल्य चुकाते रहते हैं।”

कहकर मैं आगे बढ़ गया।



सरस्वती-पुत्र



थोड़ी देर पहले डाक से उनका अभिनंदन ग्रंथ आया—डीलक्स संस्करण। उलट-पलटकर देखा—उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर कई लेख हैं। उन्हें यहाँ-वहाँ से पढ़ा भी। एक जगह पढ़ते-पढ़ते हँसने लगा।

“क्यों हँस रहे हैं, सर?” पास बैठे हुए एक शोध छात्र ने पूछा।

“इन्हें जानते हो?”

उसने पुस्तक पर छपी फोटो और नाम देखा। दिमाग पर कुछ जोर डालता हुआ—सा दिखा। फिर उसने अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

“अरे, तुम इतने बड़े विद्वान् कवि और प्रोफेसर को नहीं जानते? ये हैं अमरजी। अखंडानंद विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग के अध्यक्ष भी रहे हैं। अब सेवा-मुक्त हुए हैं तो उनके शिष्यों ने यह अभिनंदन ग्रंथ प्रस्तुत किया है।”

“नहीं सर, मैं अपनी अनभिज्ञता स्वीकार करता हूँ। मैंने कभी न इनका कोई लेख पढ़ा है, न कविताएँ पढ़ी हैं। बाकी प्रोफेसर और अध्यक्ष होंगे, तो होंगे। ये तो आज गली-गली में मिलते हैं; किंतु आप हँसे क्यों?”

“वह इसलिए कि देखो, तुमने इनकी कोई चीज नहीं पढ़ी और हमारे ये विद्वान् लेखक लोग लिखते हैं कि अमरजी हिंदी के महान् विद्वान् और कवि हैं और उनके व्यक्तित्व का क्या कहना! ये तो गांधीवादी आदर्शों और सादगी की प्रतिमूर्ति हैं। सत्य-अहिंसा और विनय तो इनके आभूषण हैं।”

“तो क्या यह सब झूठ लिखा है, सर?”

“अरे भाई, इनकी कविता और विद्वत्ता का प्रमाण तो तुमने खुद दे दिया। तुम इतना पढ़नेवाले छात्र हो और तुम्हारी नजर से इनकी कोई चीज गुजरी ही नहीं। बाकी रही गांधीवादी व्यक्तित्व की बात, तो इस अभिनंदन ग्रंथ की सादगी देख लो। है न सादगी इसमें! जरा इसका रंग-बिरंगा ग्लॉसी कागज देखो, तरह-तरह की मुद्राओंवाली फोटो देखो। गांधीवादी वेशभूषा की यह आधुनिक छटा

७८ ❖ सरस्वती-पुत्र

देख रहे हो न!"

"हाँ सर, देख तो रहा हूँ। आप इन्हें नजदीक से जानते हैं, सर?"

"अरे भाई, इन्हें नजदीक से जानता ही नहीं, पहचानता भी हूँ। और जब पहली बार इन्हें देखा था तो ये सचमुच गांधीवादी सादगी में थे—धुला हुआ किंतु मुचड़ा हुआ खादी का कुरता-पायजामा और टोपी पहनते थे ये। इनके कपड़ों पर इस्तिरी नहीं होती थी। लेकिन बाद में पता चला कि इनकी सादगी इनकी इच्छा की नहीं, इनकी आर्थिक बेबसी का परिणाम थी। तब ये एक गांधीवादी संस्था में पढ़ाते थे। बाद में इनका आधुनिक खादीवाद देखकर तो हम चकित रह गए। कीमती खादी सिल्क का कुरता, कीमती सफेद खादी का पायजामा, कीमती चप्पल और कंधे पर रेशमी दुपट्टा। टोपी उतर चुकी थी। अब करीने से सजे हुए बालों की सुंदरता का प्रदर्शन प्रमुख हो गया था।"

"हाँ सर, वह तो फोटो में लक्षित हो ही रहा है।"

"गांधीवादी सत्य तो इनमें कूट-कूटकर भरा हुआ है।"

"सचमुच सर! यह गुण तो आज बहुत दुर्लभ हो गया है। यदि इनमें है तो सचमुच महान् व्यक्ति हैं।"

मैं मुसकराया।

"आप हँस क्यों रहे हैं, सर? क्या मैंने कुछ गलत कहा है?"

"नहीं-नहीं, तुम्हारे कहने पर नहीं, अमरजी के गांधीवादी सत्य पर मुसकरा रहा हूँ। जैसे तमाम गांधीवादियों ने गांधीवाद के सत्य को अपनाया है, वैसे इन्होंने भी अपनाया है और उसीके बल पर तरक्की करते गए हैं।"

"कुछ खुलासा कीजिए न, सर।"

"तो सुनो। एक गांधीवादी नेता केवल चौधरी के जीजा मथुरा प्रसाद एम. ए. की परीक्षा दे रहे थे। उस समय मैं उस परीक्षा का प्रमुख परीक्षक था। केवलजी मेरे घर आए और बोले—'अरे भाई, अपने मथुरा प्रसाद हैं न, एम.ए. की परीक्षा दे रहे हैं। जरा सँभालिएगा।'

"'अरे, मुझसे जो संभव होगा, करूँगा।'

"मथुरा प्रसाद का थर्ड डिवीजन आ गया। केवल बाबू बहुत दुःखी हुए और मुझसे अच्छे-खासे नाराज भी। उनका अपना कॉलेज चलता था। उनकी योजना थी कि मथुरा प्रसाद सेकंड आ जाएँ तो कॉलेज में उन्हें लेक्चरर लगा दें।"

"फिर तो सब चौपट हो गया, सर!"

"अरे, नेता ऐसे हार मानता है क्या! वह तो अपने काम की सिद्धि के लिए किसी भी सीमा तक जा सकता है। उन्होंने यूनिवर्सिटी के बाबू को पटाया और

अपने कृपापात्र सत्यवादी अमरजी को पकड़ा। अमरजी भी एक परीक्षक थे। बाबू अमरजी को उस तहखाने में ले गया, जहाँ उत्तर-पुस्तकें रखी रहती हैं और यह योजना थी कि अमरजी अपने पेपर में इतने अंक बढ़ा दें, जिससे मथुरा प्रसाद की द्वितीय श्रेणी आ जाए।”

“हे भगवान्, तब क्या हुआ, सर?”

“किसीने रजिस्ट्रार को सूचना दे दी कि तहखाने में यह क्रिया-कलाप चल रहा है। वे पहुँच गए। उस क्लर्क को तो तुरंत बरखास्त कर दिया गया; किंतु केवल बाबू के प्रभाव से पुलिस केस नहीं होने पाया और अमरजी बच गए। हाँ, चार साल के लिए परीक्षा कार्य से वंचित अवश्य कर दिए गए।”

“बेचारा क्लर्क मारा गया!”

“कहाँ? अरे केवल बाबू उसे अपने कॉलेज में ले गए और हेड क्लर्क बना दिया।”

“यह तो अद्भुत है, सर!”

“और इससे अद्भुत यह हुआ कि दो साल बाद केवल बाबू प्रदेश के शिक्षा मंत्री हो गए और उनकी कृपा से ये फिसड्डी अमरजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हेड हो गए—बड़े-बड़े विद्वान् लोग अपनी विद्वत्ता लिये झूख मारते रह गए। और जब कोई प्रोफेसर हेड हो जाता है न तो सहज ही विद्वान् हो जाता है, साहित्यकार हो जाता है; उसीकी श्रेणी के तमाम लोग उसकी जय-जयकार करने लगते हैं। देख रहे हो न यह अभिनंदन ग्रंथ!”

“विश्वास नहीं होता, सर, कि शिक्षा-जगत् में इतना कुछ होता है। जरा इनकी फोटो फिर दिखाइएगा, सर।” कहकर छात्र गौर से उनकी फोटो देखने लगा।

“देखने में ये कितने शरीफ लगते हैं, सर!”

“हाँ, हैं भी!”



हँसी



अपनी तनी हुई मूँछों पर ताव देते हुए गाँव के मुखिया रामबहादुर शुक्ल ने पूछा—“का हो दुधई भाई, ई सब क्या सुन रहा हूँ?”

“आप क्या सुन रहे हैं, मुखियाजी?”

“अरे वही, जो कमाल आप मामखोर में करके आए हैं?”

चौपाल में बैठे सभी लोगों के चेहरों पर मुसकराहट उभर आई थी और लगता था जैसे सभी लोग अब अट्टहास करने ही वाले हैं।

“अरे मुखिया भाई, मैं तो एक बहुत मामूली आदमी हूँ, मैं क्या कमाल करूँगा! बस आप लोगों की दया से किसी तरह जी रहा हूँ।” कहकर दुधई ने अपनी फटी धोती थोड़ी और सरका ली।

थोड़ी देर चुप्पी छाई रही तो एक आदमी ने पूछा—“आखिर क्या हुआ, मुखियाजी? दुधई भाई ने कौन-सा कमाल किया है? जरा हम लोग भी तो सुनें।”

“सुनाइए न दुधई भाई, अपनी वह करामात, जो कार्तिक पूर्णिमा के मेले में जाते समय अपनी ससुराल में की थी।”

“मैंने तो कोई करामात नहीं की थी। करामात करने की लियाकत मुझमें कहाँ है, मुखिया भाई! वह तो आप लोगों के ही बूते की बात है।”

“अरे, तो आप ही सुनाइए न, मुखियाजी! दुधई भाई अपनी करामात की कहानी थोड़े ही कहेंगे।”

“तो सुनिए, आप लोग तो जानते ही हैं कि दुधई भाई का लगाव औरतों से ज्यादा है, इन्हें पुरुषों की अपेक्षा औरतों के साथ उठना-बैठना ज्यादा अच्छा लगता है। उन्हें मेला घुमाना, उनका सौदा-सुलुफ खरीदवाना और उनकी तरह-तरह की फरमाइशें पूरी करना इन्हें बहुत अच्छा लगता है।”

“हाँ-हाँ, दुधई भाई तो इसमें माहिर ही हैं। औरतों की इतनी निकटता

भाग्यवानों को ही नसीब होती है।" एक हलका-सा ठहाका पड़ा।

"तो पिछली बार जब मामखोर में अपनी ससुराल गए थे तो इन्होंने औरतों को बताया कि हमारे गाँव का बड़ई लकड़ी के बहुत अच्छे बरतन बनाता है। तब औरतों ने फरमाइश की कि अगली बार आइए तो कुछ बरतन लेते आइए।"

"तब?"

"तब इस बार यानी कार्तिक पूर्णिमा को ये सरयूजी नहाने गए तो काठ के बरतनों की एक गठरी पीठ पर लाद ली थी। यानी कटोरे, डोकिया, चौंका-बेलना आदि-आदि। जब इन्होंने तरैना नदी का पुल पार किया तो सोचा, शाम हो गई है, अब निबटकर ही गाँव में चला जाए।" कहकर रामबहादुर चुप हो गए।

"फिर, फिर क्या हुआ, मुखियाजी?" कई लोग एक साथ चिल्लाए।

"फिर भाई, हुआ यह कि जब ये आबदस्त लेने नदी के किनारे गए तो फिसलकर गिर पड़े और कपड़े कीचड़ में सन गए।"

"फिर!" एक हँसी पड़ी।

"तो फिर दुधई भाई को चिंता हुई कि अब इन कीचड़वाले कपड़ों में ससुराल कैसे जाया जाए। इन्होंने अँधेरे में उन्हें धो लिया और सोचा कि सूख जाएँ तो चला जाए।"

"अरे, लेकिन धोती धोने के लिए ये नंगे हो गए थे क्या?"

"अरे भाई, उस निर्जन अँधेरे में कौन देखता था कि ये नंगे हैं कि नहीं!"

फिर एक ठहाका पड़ा।

लोगों ने दुधई की ओर देखा। वे पता नहीं किस भाव से मुंडी हिला रहे थे।

"हाँ, तब?"

"जब कपड़े कामचलाऊ हो गए तो ये ससुराल पहुँचे। तब तक सूता पड़ गया था। दरवाजे पर तो घर के पुरुष और मेहमान सोए थे। दुधई भाई खुले जंगले के पास गए और अंदर झाँकने लगे। कोई आहत नहीं हुई तो खँखारा। एक औरत की आँख खुली। उसने किसीको जंगले से झाँकते हुए देखा और डर से चिल्ला पड़ी—'चोर, चोर-चोर'।" फिर तो सारे पुरुष जाग गए और दुधई भाई भाग खड़े हुए। उनकी पीठ पर लदे काठ के बरतन खड़-खड़, खड़-खड़ शोर करने लगे। लोगों ने समझा कि चोर घर के सारे बरतन चुराकर भाग रहा है।"

"तब?" लोगों की उत्सुकता चरम पर पहुँच गई थी।

"तब क्या भाइयो, कुछ दूर भागने के बाद ये पकड़ लिये गए और दो-चार हाथ लगे ही थे कि एक आदमी लालटेन लिये आ गया और जब लालटेन दुधई भाई के चेहरे के पास लाई गई तो लोग विस्मय से चिल्ला उठे—'अरे, ये तो

८२ ❖ हँसी

दुधई पहुना हैं !'

“ ‘अरे दुधई पहुना हैं तो भाग क्यों रहे थे और इनकी पीठ पर खड़-खड़, खड़-खड़ क्या बज रहा था?’ दुधई के ससुरजी ने कहा और गठरी खोलकर देखी तो उसमें काठ के बरतन दिखाई पड़े।

“वहाँ एकत्र लोग हँसने लगे और इन्हें सम्मान से घर ले गए।”

मुखियाजी की बात खतम होते ही चौपाल ठहाकों से भर गया। ठहाका थमने पर एक आदमी ने पूछा—“मुखिया भाई, आपने यह कहानी ऐसे सुनाई जैसे दुधई भाई के साथ-साथ गए थे।”

“नहीं, मैं साथ नहीं गया था; लेकिन इस दृश्य को खंड-खंड रूप में जिन लोगों ने देखा, उनकी बातों से यह पूरी कहानी मेरी पकड़ में आ गई।”

“यह तो ठीक है; किंतु दुधई भाई यहाँ बैठे हैं, उनसे तो पूछ लिया जाए कि यह कहानी सही है कि नहीं। बोलिए दुधई भाई!”

“भाइयो, मुझसे क्या पूछना! अरे मुखिया जैसे लायक लोग जो कुछ कह देंगे वह सही होगा और दुधई जैसे नालायक आदमी की सही बात भी गलत मानी जाएगी; इसलिए मैं क्या कहूँ?”

“तो भी!”

“तो भी, वो भी क्या, भाइयो! आजकल दुनिया में बड़े लोग दूसरों को रूलाने में ही अपनी लियाकत और बड़प्पन मानते हैं। इनकी बात सही हो या नहीं, किंतु यदि मुझ जैसे नालायक आदमी को बहाना बनाकर इतने लोग एक साथ हँस लेते हैं तो इससे बड़ी बात क्या हो सकती है! इससे तो मैं अपना जीवन धन्य मानता हूँ।”

कहकर दुधई भाई चले गए और मुखिया रामबहादुर के चेहरे पर फैली हुई हँसी धीरे-धीरे स्याही में बदलती गई।

□

भाषा



सपरिवार दक्षिण यात्रा पर गया था। सुना था, वहाँ हिंदी के प्रति बहुत उदासीनता का भाव है। मन में डर था कि पता नहीं लोगों से संवाद हो पाए या नहीं। लेकिन एक आश्वस्ति थी कि हर नगर में हिंदी जाननेवाले (बल्कि हिंदी के विद्वान्) दक्षिण भारतीय मित्र हैं, उनके नाते असुविधा नहीं होगी। फिर सुना है, वहाँ का हर आदमी अंग्रेजी जानता है, तो अंग्रेजी में तो बातचीत हो ही सकती है।

वहाँ पहले चेन्नई गया, फिर तिरुपति, फिर चेन्नई, फिर त्रिवेंद्रम, फिर कन्याकुमारी। जहाँ दक्षिण भारतीय मित्र साथ रहे, वहाँ तो दिक्कत नहीं हुई: किंतु जहाँ हम अकेले हो गए, थोड़ी परेशानी आई। बसों के नाम और नंबर केवल स्थानीय भाषा में थे। यहाँ-वहाँ साइनबोर्ड भी स्थानीय भाषा में थे। इससे मुझे दिक्कत तो हुई, किंतु यह जानकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ के लोग अंग्रेजी के समर्थक जरूर होंगे, किंतु उन्हें अपनी भाषा से बहुत प्यार है। ये नौकरियों की प्रतिस्पर्धा के कारण हिंदी के विरोधी और अंग्रेजी के समर्थक हो सकते हैं, किंतु ये अंग्रेजीपरस्त नहीं हैं। होते तो इनके सारे साइनबोर्डों के नाम अपनी भाषा में न होकर अंग्रेजी में होते। ये लोग नौकरी-चाकरी की प्रतिस्पर्धा में आगे निकल जाने के लिए अंग्रेजी में दक्षता प्राप्त करते हैं, अपने देशी संस्कार बदलने के लिए नहीं। किंतु उत्तर भारत और विशेषतया दिल्ली में तो अंग्रेजी संस्कार के रूप में धँसी हुई है। न अपनी भाषा का सम्मान दिखाई पड़ता है और न अपनी भारतीय परंपरा का। यहाँ के बच्चों (हिंदी के प्रोफेसरों के भी बच्चों) के नामकरण संस्कार, विवाह संस्कार, जन्मदिन समारोह सभी के निमंत्रण पत्र अंग्रेजी में छपते हैं। मित्रों की गपशप अंग्रेजी में होती है, हँसी-मजाक अंग्रेजी में होता है। दुकानों के सारे साइनबोर्ड अंग्रेजी में होते हैं और बेशर्मा यह कि इधर के लोग कुछ दूसरे प्रदेशों को हिंदी-विरोधी कहते हैं।

सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा रह गई है किसानों की, मजदूरों की,

यानी आम जनता की। इस देश में शासकों और पूँजीपतियों की निगाह में जब आम जनता का कोई महत्त्व ही नहीं है तो उसकी भाषा का क्या होगा? लेकिन यह कम गौरव की बात नहीं कि इतनी उपेक्षा में भी आम जनता जी रही है, उसकी देशी भाषाएँ जी रही हैं और देशी भाषाओं की संपर्क-सूत्र भाषा हिंदी जी रही है। अंग्रेजी और अंग्रेजीपरस्त तो देशी भाषाओं और देशी जनता पर फैले हुए अमरबेलियाँ हैं, उनकी कोई जड़ नहीं।

हाँ, तो हम दक्षिण भारत में जहाँ अकेले गए, वहाँ केवल संभ्रांत लोगों से ही अंग्रेजी में बात की। अति सामान्य लोगों से शुरू में एकाध जगह अंग्रेजी में बात की, किंतु लगा कि वे नहीं समझ रहे हैं। फिर नहीं की। दिक्कत यह थी कि वे अंग्रेजी समझ नहीं रहे हैं, हिंदी समझते नहीं होंगे, मैं उनकी भाषा समझता नहीं, फिर जरूरत के लिए संवाद कैसे किया जाए। हम तिरुपति से चेन्नई लौट रहे थे। बस में सात-आठ साल का एक गरीब-सा बच्चा केले बेच रहा था। तेलुगू में आवाज लगा रहा था। बेटी ने कहा—“पापा, केले ले लीजिए न, भूख लगी है।”

मैंने लड़के को इशारे से बुलाया और इशारे से ही पूछा, केले कैसे दिए? वह फटाक से बोला—“एक रुपए के दो, एक रुपए के दो।”

मैं प्रसन्न हो आया। अरे, हिंदी तो यह भी जानता है। फिर सोचा, हो सकता है संयोग हो; किंतु जब ग्यारह बजे रात को चेन्नई के बस स्टैंड पर उतरा तो टैक्सीवालों ने हमें घेर लिया। कहाँ जाएँगे, साहब? कहाँ जाएँगे, साहब? की आवाजें मुझपर गिरने लगीं, और वहाँ पूरा संवाद हिंदी में ही हुआ। दूसरे दिन गांधी भवन देखने गए। अहाते में बैठकर विश्राम कर रहे थे। गेट के पास ही चना-चबैनावाला बैठा था। पत्नी ने कहा, “चना-चबैना खाया जाए।” मैं उठकर उसके पास गया और इशारे से पूछा कि कैसे दिया? वह हिंदी में बात करने लगा। उसी दिन शाम को आतिथेयवाले सुब्रह्मण्यमजी साड़ियों की एक दुकान पर ले गए। मैंने अंग्रेजी में बातचीत शुरू की, किंतु दुकानदार तो फरटि से हिंदी में बात करने लगा।

“आप उत्तर भारत में रहे हैं क्या?” मैंने पूछा।

“नहीं साहब, यहीं हिंदी सीखी है और आप जैसे लोगों के आने-जाने से उसका अभ्यास बढ़ता गया है।”

भाषा ने हमारा लगाव बढ़ा दिया और हमने अधिक-से-अधिक साड़ियाँ खरीदीं।

“क्या बढ़िया हिंदी बोलता है यह आदमी!” मैंने अपने मित्र से कहा।

“लगभग सारे दुकानदार हिंदी बोलते हैं—कोई बड़िया, कोई कम बड़िया। इन्हें दुकान पर भाषा की राजनीति से कोई मतलब नहीं, इन्हें तो अपना माल बेचना है। हाँ, वैसे ये रास्ते में कहीं मिल जाएँ और आप इनसे हिंदी में कुछ पूछें तो शायद उत्तर न दें और यह भाव दिखाएँ कि हिंदी नहीं जानते।”

दो दिन बाद कन्याकुमारी पहुँचा। कन्याकुमारी का यह मेरा पहला दर्शन था। उसकी भव्यता और विराट्ता के आगे मैं अवाक् रह गया। सबसे बड़ी बात तो यह थी कि यहाँ भारत के विभिन्न स्थानों से आए नर-नारियों का मेला लगा हुआ था। बस से उतरते ही कुली ने सामान सँभाला और हिंदी में बोला—“किस होटल में चलना है, साहब?”

“अभी तय नहीं किया है।”

तब तक एजेंट—सा एक आदमी आ गया और वह हिंदी में ही तमाम होटलों के नाम बताने लगा।

होटल में सामान रखकर बाजार में घूमने निकला—दुकान, होटल आदि अनेक भाषा-भाषियों के थे और यात्रियों में कोई बंगाली था, कोई पंजाबी, कोई ओड़िया, कोई असमी, कोई गुजराती, कोई मराठी, कोई बिहारी और कोई उत्तर प्रदेशीय, और दक्षिण के तो थे ही। यात्रियों में भी अधिक संख्या स्त्रियों की ही थी। और यह सर्वज्ञात है कि स्त्रियों में अधिकांश अंग्रेजी नहीं जानतीं, केवल अपनी भाषा जानती हैं। मैं सोचने लगा कि इस जन-संगम में कैसे काम चलता होगा? कुछ व्यापारी तो इतने पटु होते हैं कि वे कई भाषाओं का कामचलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं; किंतु बाकी का काम कैसे चलता होगा? मैंने इस प्रश्न को लेकर लोगों की बातचीत पर ध्यान देना शुरू किया और बहुत सुखद आश्चर्य हुआ कि वहाँ सबके बीच हिंदी सेतु बनी हुई थी।

मैं सोचने लगा, कहाँ हैं वे लोग जो कहते हैं कि अंग्रेजी हमारे देश की संपर्क भाषा है। वे यहाँ आकर देखें तो सही कि यहाँ अंग्रेजी कहाँ है? हाँ, लेकिन यहाँ तो घरेलू औरतें और सामान्य जन ही हिंदी बोल रहे हैं न। और इस देश के अंग्रेजीपरस्त अभिजनों की दृष्टि में स्वभाषा-भाषी औरतों तथा सामान्य जन की कोई औकात ही नहीं है। सामान्यजन तथा घरेलू औरतें अपने खून-पसीने से इस देश को बनाने के लिए हैं। भोगने के लिए ये अभिजन हैं और जब तक अंग्रेजी सुरक्षित रहेगी, ये अभिजन देश को बड़े आराम से भोगते रहेंगे।



पहचान



आज मलयानिल उर्फ मलयजी का अभिनंदन ग्रंथ देखा। ताज्जुब हुआ कि उसमें कलट्टर मल का लेख नहीं था। पता नहीं मलयजी क्या सोच रहे होंगे! (वे स्वयं कुछ सोचते भी हैं कि नहीं) किंतु मुझे अच्छा नहीं लगा। मेरे सामने इतिहास के कई-कई मोड़ गुजर गए।

एक साहित्यिक समारोह था। बहस के बाद साहित्यिक मित्र लोग गपशप कर रहे थे। चर्चा थी कि कौन आदमी किस विचारधारा का या गुट का है। वहीं मलयजी भी खड़े थे। मैंने कहा—“सवाल यह नहीं है कि कौन किस विचारधारा का है, सवाल यह है कि कौन क्या मान लिया जाता है? अब देखिए मलयजी को, कल तक रूपवादी थे और इनके लिए जैनेंद्र व अज्ञेय प्रेमचंद से बड़े उपन्यासकार थे; किंतु रात-भर में ही बदल गए। सुबह उठे तो ज्ञात हुआ कि ये मार्क्सवादी हो गए हैं और इन्हें लगने लगा कि अज्ञेय, जैनेंद्र, गिरिजाकुमार सभी बुर्जुआ लेखक हैं, रोमांटिक और व्यक्तिवादी। वास्तविक लेखक तो मुक्तिबोध, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन हैं। सबसे बड़े उपन्यासकार प्रेमचंद हैं।”

“और शमशेर?” किसीने पूछा।

“हाँ, शमशेर भी।”

“लेकिन शमशेर तो इस तरह मार्क्सवादी नहीं लगते!”

“मैंने कहा न कि लगना आवश्यक नहीं है। मान लेना महत्वपूर्ण है।”

“लेकिन फिर भी, कुछ तो होगा।”

“हाँ, तर्क यह है कि कलट्टर मल ऐसा कहते हैं। द्वारकाधीश ऐसा कहते हैं।”

मैंने मुड़कर देखा तो मलय वहाँ से सरक गए थे और अपने अनुकूल कुछ लोगों की मंडली में शामिल हो गए थे।

“जनवाद तो यहाँ से सरक गया।” एक आदमी ने टिप्पणी जड़ी और जोर का ठहाका पड़ा। मलयजी ने वहाँ से कनखियों से हमें देखा।

वहाँ तो बात आई-गई हो गई, किंतु यह मेरे लिए हमेशा एक प्रश्न बना रहा है कि लोग बिना किसी आस्था के, सुविधा या स्वार्थ के लिए क्यों विचार-धाराओं को ओढ़ने-बिछाने लगते हैं। साहित्यिक आस्थाएँ इतनी ऊपरी चीजें हैं क्या कि जब चाहे उन्हें ओढ़-बिछा लो, जब चाहे फेंक दो? राजनेताओं की तरह साहित्य में भी दल-बदलुओं की जमात है। उन्हींकी तरह कुछ साहित्यकार बिना किसी आस्था के विचारधाराओं और उनसे जुड़े साहित्यिक दलों से जुड़ते-बिछुड़ते रहते हैं। किसी विचारधारा के लिए किसीको लहलुहान न होना पड़े, उससे जुड़े व्यवहार में न उतरना पड़े; बल्कि इसके उलट उसे दल के बल पर शीघ्र प्रचार मिल जाए, कुछ और फायदे मिल जाएँ तो क्या इसे विचारधारा से जुड़ना कहेंगे? क्या विचारधारा के प्रति आस्था कहेंगे? ऐसी स्थिति में नेताओं की तरह यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ होने में कितना समय लगता है।

अतः मलयजी, जो कल तक रूपवादी थे, रातोंरात मार्क्सवादी बन गए। इसका मतलब है कि न तो रूपवाद में उनकी आस्था थी, न जनवाद में। वैसे इनका मनवाद और तनवाद रूपवाद से मेल खाता था—इनके दुबले-पतले निर्जीव तन में एक निर्जीव और सूक्ष्म मन था, जिसे दुनिया की तमाम चीजें सूक्ष्म ही दिखाई देती थीं। रूपवाद कहने को तो रूपवाद है, किंतु वास्तव में वह अरूपवाद है, जो कविता के शब्द-रूप पर बल देता हुआ उसके भीतर किसी ठोस अर्थ-छवि को नहीं, अरूप छवि को देखता है। मलयानिलजी मलयानिल भी नहीं थे बल्कि मलयानिल की परछाई थे, और वे अपने नाम के अनुकूल ही अपनी रचनाओं में परछाइयाँ ही दे रहे थे। और समीक्षाओं में जो दे रहे थे, उनकी सूक्ष्म छायाओं को पकड़ पाना आसान नहीं था। न जाने क्या समझते थे, क्या देते थे। इस शैली की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि समीक्षक रचना के प्रति अपनी नासमझी को बहुत सुंदर वाग्जाल में छिपा लेता है। पाठक को लगता है कि बहुत कुछ दिया जा रहा है; किंतु क्या दिया जा रहा है, पकड़ नहीं पाता। वह इस प्रकार की रचना या आलोचना के साथ आत्मीय भाव से चलने के स्थान पर विस्मय से ठिठककर उसे देखता रहता है।

विदेशों की बात और है; किंतु हिंदी में रूपवाद, व्यक्तिवाद, प्रगतिवाद जनवाद, समाजवाद का जो ठप्पा रचनाकारों पर लगाया गया वह सहज होने के स्थान पर बहुत कुछ प्रायोजित लगता है। नहीं तो अज्ञेय, जैनेंद्र, बच्चन, भारती आदि को एकदम रूपवादी या व्यक्तिवादी कहने का क्या मतलब? क्या इनके

लेखन में अर्थ का घनत्व नहीं है या समाज-चेतना नहीं है ? किंतु हिंदी आलोचना को रचनाओं और रचनाकारों को खानों में बाँटकर देखने की आदत-सी पड़ गई है। इसमें उसे सुविधा और सुख दोनों मिलता है। तो मलयजी बहुत दिन तक रूपवाद को कोई बहुत बड़ी चीज मानकर उसपर मुग्ध रहे और यहाँ-वहाँ से शब्द और उक्तियाँ बटोरकर कथरी साँते रहे। उनका अपना कुछ नहीं था; जो कुछ था, उधार था। लेकिन लगता है कि उनके जीवन का यह साहित्यिक दौर उनके अपने स्वभाव और स्वधर्म के अनुकूल था।

लेकिन जब सुना कि मलयजी मार्क्सवादी हो गए तो आश्चर्य भी हुआ, हैसी भी आई। आश्चर्य इस बात पर कि रातोंरात इन्हें क्या हो गया ? और हैसी इस बात पर कि इनके तन-मन और व्यवहार का कोई संबंध मार्क्सवाद से जुड़ता भी है क्या ? लेकिन खैर, जब बहुत से घोषित मार्क्सवादियों का संबंध नहीं जुड़ता तो एक और सही। लेकिन रातोंरात यह परिवर्तन कैसे हुआ ?

पता चला कि मलयजी को लग गया कि अज्ञेयवाद का पलड़ा कमजोर पड़ रहा है। उनसे जुड़े तमाम रचनाकारों और आलोचकों की रंगत फीकी पड़ रही है। मुक्तिबोध की दमदार गदा तो काफी दिनों से भाँजी ही जा रही थी और उससे अज्ञेयवाद को आहत किया ही जा रहा था; इधर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की त्रयी को विशेष प्रतिष्ठा दी जा रही है। अब यह सबकुछ कलट्टर मल के इशारे पर हो रहा है। वे इन दिनों वास्तव में साहित्य के जनपद के जिलाधीश हैं। वे जिसे चाहें बना सकते हैं, जिसे चाहें बिगाड़ सकते हैं। हमेशा कृपाकांक्षी रहते चले आनेवाले मलय को लगा कि बिना कलट्टर मल की कृपा के उद्धार नहीं है। वे जब चाहें किसी अकवि को कवि बना दें, किसी सामान्य रचना को विशिष्ट घोषित कर दें और जब चाहें किसी उपेक्षित रचनाकार को एकाएक केंद्र में ला दें। फिर जब चाहें चुप्पी साधकर किसीकी श्रुति का चीर-हरण कर लें।

मलयजी ने कलट्टर मल की आलोचना की आरती उतारनी शुरू कर दी। कलट्टर मल का ध्यान जाना स्वाभाविक ही था। उन्होंने एक दिन पृच्छा—“क्या चाहते हो, वत्स ?”

“अंधा क्या चाहे—दो आँखें। इतना लिखा, किंतु कोई मुझे गंभीरता से लेता ही नहीं। आपको कृपादृष्टि हो जाए तो मैं भी कुछ बन जाऊँ।”

कलट्टर मुसकराए—“हलकी चीज लिखोगे, हलके लोगों पर लिखोगे तो लोग गंभीरता से कैसे लेंगे ? ठीक है, मैं तुम्हें अपनाता हूँ। पहला काम यह करो कि तुम अपने कस्बे में जनवादी लेखक संघ की स्थापना करो और जिन रचनाकारों पर मैं कहूँ, लिखो; जो लाइन मैं दूँ, उसपर चलो; जिनकी उपेक्षा करने

को कहूँ, उपेक्षा करो। कभी स्वतंत्र होने की कोशिश मत करना; फिर देखो, तुम क्या से क्या हो जाते हो!”

“एवमस्तु गुरुजी!” कहकर मलयजी ने अपने को समर्पित कर दिया। उसके कस्बे में ‘जनवादी लेखक संघ’ की स्थापना हुई। लोग चौंके—अरे, इस मलय को क्या हो गया? लेकिन लोग चौंकते रहें, इससे क्या फर्क पड़ता है! जिससे फर्क पड़ता है वही काम वह करेगा। फिर तो न जाने कितनी गोष्ठियाँ हुईं, जिसमें कलट्टर और उनके साथी-संघाती आते रहे, फल-फूल पाते रहे, उनकी आरती उतारी जाती रही। कलट्टर मल ने कई संस्थाओं से हिंदी कविता और कहानी के विशिष्ट संकलन निकालने की योजना बनाई। संपादक मलय को ही बनाया और जैसे चाहा वैसे कविताओं, कहानियों का चयन कराया; जिसे चाहा लिया, जिसे चाहा छोड़ा। काम सिद्ध हुआ कलट्टर का और बदनामी हुई मलय की। लेकिन मलय के लिए दुनिया से प्राप्त बदनामी की अपेक्षा एक कलट्टर मल की कृपा ज्यादा महत्वपूर्ण लगी। मलय समझें या न समझें, किंतु लोग समझते थे कि कलट्टर मल इनका इस्तेमाल कर रहे हैं। जब वे अपने गुरुओं का इस्तेमाल करने से नहीं चूके तो मलय में क्या रखा है?

एक दिन किसीने यों ही कलट्टर मल से पूछ लिया—“आजकल तो आप मलयजी को काफी चढ़ाए हुए हैं, क्या है उनमें? उनकी अपनी कोई पहचान तो रही नहीं?”

“इसमें मेरा क्या जाता है! वह दस जगह मेरा नाम तो लेता है। रहीं बात पहचान की, सो इस बारे में उसे सोचना चाहिए। मुझे कोई झंडाबगदार मिल जाए तो मुझे क्यों एतराज होना चाहिए!”

और जब मलय साठ वर्ष के हुए तो उनके मित्रों ने उनपर एक सम्मान ग्रंथ निकालने की योजना बनाई। मलय को बड़ी प्रसन्नता थी कि आज तक न सही, इस ग्रंथ के ब्रह्मने तो कलट्टर मल उसके साहित्य पर कुछ लिखेंगे। संपादक लोग कलट्टर मल को लिखते रह गए, कलट्टर मल चुप रहे। ग्रंथ छप गया, कलट्टर मल चुप हैं।



सफेद चोरी



नर्सिंग होम के आगे रिक्शे से उतरा तो रिक्शेवाले को पाँच रुपए का नोट दिया। उसने कहा—“बाबूजी, एक रुपया और।”

“अरे, यहाँ तक तो पाँच रुपए होते हैं। एक रुपया और कैसा?”

“नहीं बाबूजी, यहाँ तक छह रुपए होते हैं।”

“भागो यहाँ से! बीमारों को लेकर तो लोग यहाँ यों ही परेशान होते हैं, तुम लोग अपनी ठगी से और भी परेशान करते रहते हो। तुम लोगों को भी सवारियों को चूसने का यही मौका मिलता है!”

“अपनी मजूरी माँग रहा हूँ, बाबूजी, इसमें ठगी क्या है? जाइए, एक रुपया दबाकर आप ही खुश रहिए।”

मैंने उसे घूरकर देखा और वह चुपचाप चला गया।

बेटे को लेकर जब मैं दूसरे रिक्शे पर घर लौटने लगा तो मन बहुत भारी था। दो दिन में पाँच हजार रुपए कट गए। बिल हाथ में लेते ही पाँव थरथराने लगे थे। वह कल का छोकरा डॉक्टर इस नर्सिंग होम का मालिक है। वह सबसे ज्यादा फीस लेता है; यानी एक विजिट के पाँच सौ रुपए। दिन में दो विजिट। यानी एक हजार रुपए। अरे बाबा, अस्पताल तुम्हारा है, तुम्हें कौन मना कर सकता है विजिट करने से! दिन में दो विजिट करो, तीन विजिट करो, चार करो—तुम्हारी मरजी। हर बार पाँच सौ रुपए। दो दिन में दो हजार फीस तो उसीकी हो गई। बाकी और विशेषज्ञों की फीसें। हर विशेषज्ञ के साथ उसकी एक पूँछ डॉक्टर। अब कौन किस डॉक्टर को विजिट करने से रोक सकता है! कौन पूछे कि इतने डॉक्टर विजिट पर क्यों आए?

एक बार मन हुआ कि उस मालिक छोकरे से पूछूँ कि आपने दिन में दो-दो विजिट की फीस क्यों ली है? और डॉक्टरों की फीस सौ-सौ रुपए है, आपकी पाँच सौ क्यों है? आपको कौन से सुरखाव के पर लगे हैं? लेकिन नहीं पूछ

सका। सारा गुस्सा पीकर चुप रह जाना पड़ा। इनसे लुटकर भी इनसे वैर-विरोध क्यों किया जाए? हो सकता है, यहाँ फिर आना पड़ जाए। आसपास में जितने नर्सिंग होम हैं उन सबमें अच्छा कहा जा सकता है इसे। जब जान पर बन आती है तब पैसा नहीं दिखाई पड़ता, इसीका लाभ उठाते हैं ये सब।.....पूरे महीने की तनखाह दो दिन में चली गई....।

घर पर उतरा तो रिक्शेवाले को दस का नोट दिया। उसने कहा—“बाबूजी, मेरे पास पाँच रुपए नहीं हैं।”

“कोई बात नहीं, रख लो।”

रिक्शेवाला हाथ में नोट लिये हतप्रभ खड़ा था। उसे लगा कि मैं व्यंग्य कर रहा हूँ।

मैंने डपटकर कहा—“रख लो न भाई, उन सफेदपोशों को यदि पाँच हजार दे सकता हूँ तो तुम्हें पाँच रुपए नहीं दे सकता!”



वह बदहवास भीड़



मैं वाणी विहार में आया-ही-आया था। तब वाणी विहार बहुत कम बसा था और इसके आसपास की बस्तियाँ भी काफी खाली पड़ी थीं। मैं एक दिन अपने परिवार के साथ छत पर खड़ा था। एकाएक देखा कि आसपास कुछ हलचल मच रही है। मेरी छत पर से नजफगढ़ रोड तक आर्यसमाज रोड दिखाई पड़ रहा था। मैंने देखा कि पूरे आर्यसमाज रोड पर भगदड़ मची हुई है। लोग भागते हुए इधर को ही आ रहे हैं। बड़े-बूढ़े, मोटे-पतले, नाटे-लंबे स्त्री-पुरुष झुंड-के-झुंड चले आ रहे हैं और बिंदापुर गाँव की ओर भागे जा रहे हैं। कोई पैदल है, कोई स्कूटर पर, कोई आते-जाते रिक्शे को पकड़कर उधर हाँक दे रहा है। साइकिलों की तो गिनती ही नहीं। दो-चार अधेड़ मजदूर औरतों को बदहवास भागते देखा, जैसे उनका कोई आदमी थाने में बंद हो गया हो और पीटा जा रहा हो। एक बुढ़िया मेरे घर के सामने गिर पड़ी और फिर उठकर भागी। एक मोटा आदमी थुलथुल-थुलथुल बड़ा-सा पेट लहराता हुआ भागा आ रहा था और दौड़ते-दौड़ते रास्ते में लेटे एक पिल्ले से टकराकर गिर पड़ा। पिल्ला 'पोऊँ-पोऊँ' करता उसके पीछे हो लिया और वह मोटा उठकर पीछा करते हुए पिल्ले को ढेला मारता हुआ आगे की ओर दौड़ने लगा। छत पर हँसते-हँसते हमारा तो बुरा हाल हो रहा था।

आलम यह था कि जो जिधर से रास्ता पा रहा था, उधर से बिंदापुर गाँव की ओर भाग रहा था। ऐसी भगदड़ दंगे-फसाद के समय देखी जाती है; किंतु दंगे-फसाद की भगदड़ में एक आतंक होता है, भागनेवालों में भी और देखने वालों में भी। ऐसे समय में लोग झुंड-के-झुंड भागते हुए गली-कूचों में बिखर जाते हैं और विलुप्त हो जाते हैं; किंतु इस भगदड़ में लोग गली-कूचों से निकलकर समूहबद्ध हो रहे थे और समूह के रूप में लक्ष्य की ओर भाग रहे थे। इस भीड़ में आतंक नहीं था, एक कौतूहल था। 'हाय, यदि हम पिछड़ गए तो

दृश्य नहीं देख पाएँगे' यह बेचैनी भी थी।

हम छत पर खड़े इस दृश्य का आनंद लेते हुए भी यह जानने को परेशान थे कि आखिर ये लोग जा कहाँ रहे हैं? किससे पूछा जाए? सभी तो बदहवास भाग रहे हैं। तब तक हेमंत इधर-उधर घूमकर पता कर आया। उसने बताया कि हवाई छतरी से दो विदेशी जासूस उतरे हैं बिंदापुर गाँव के आसपास। वे पकड़े गए हैं। लोग उन्हींको देखने जा रहे हैं। हेमंत भी भीड़ में शामिल हो गया।

मैं सोच रहा था कि मुझे भी जाना चाहिए। लेकिन, मैं प्रायः सोचने और करने के द्वंद्व में पड़ा रह जाता हूँ, तब तक समय निकल जाता है; आज भी यही हुआ। थोड़ी देर बाद देखा कि लोग लौट रहे हैं। जो लोग उत्साह से दौड़ते हुए गए थे, वे लोग मरे मन से धीरे-धीरे लौट रहे थे। हम लोग अब छत पर खड़े लौटने का दृश्य देख रहे थे और समझ नहीं पा रहे थे कि उमंगित भीड़ को लकवा कैसे मार गया। तब तक वही बुढ़िया घर के सामने से धीरे-धीरे सरकती हुई दिखाई पड़ी। मैंने पूछा—“क्या बात है, ताई? अभी तो बड़े उछाह में गई थी, अब मरे मन से क्यों लौट रही हो?”

“अरे का बतावें बचवा, हम तो समझे थे कि ये कोई विदेशी जासूस हैं। अरे ई मुवे तो अपने ही देस के फौजी निकले, जो छतरी से कूदने की परेकटिस कर रहे थे। भगवान् इनका बेड़ा गरक करे, हमें नाहक इतना परेशान किया!”

हमारा तो हँसते-हँसते बुरा हाल हो गया; किंतु जब हँसी सँभली तो एक प्रश्न ने आ घेरा—क्या अपने देश के फौजी सिपाहियों की अभ्यासजन्य निपुणता और कुशलता देखने की अपेक्षा विदेशी जासूस का पिटना देखना ज्यादा मूल्यवान् था?



सम्मान



मुझे बड़ी परेशानी हो जाती है बायोडाटा के इस कॉलम के सामने। यह कॉलम मुँह फाड़े पूछता रहता है कि आप कहाँ-कहाँ सम्मानित हुए? मैं क्या लिखूँ, जब किसी छोटी-बड़ी संस्था ने आज तक मुझे सम्मानित ही नहीं किया। हर बार की तरह आज भी सबकुछ भर लेने के बाद इस कॉलम के आगे निरुपाय-सा बैठा हूँ।

सोचता हूँ, लेखक का सम्मान क्या है? जब किसी संस्था द्वारा किसी लेखक की किसी रचना या उसके समूचे कृतित्व पर बहस होते देखता हूँ तो बहुत अच्छा लगता है। लगता है, सचमुच इस लेखक का सम्मान हो रहा है; किंतु आज सम्मान का अर्थ बदल गया है। कुछ लोग ऐसे हैं, जिनका विविध कारणों से सम्मान होता रहता है—कभी इस शहर में, कभी उस शहर में, कभी इस गली में, कभी उस गली में, कभी इस मंच से, कभी उस मंच से। उन्हींके पैसे से माला आती है, शाल आती है। उन्हींके पैसे से कमरा लिया जाता है। उन्हींके पैसे से चाय की व्यवस्था होती है। उन्हींके भाड़े के लोग प्रशस्ति-गान करते हैं। प्रशस्ति किस चीज की हो रही है, पता ही नहीं चलता। यानी सबकुछ प्रायोजित होता है।

यदि यही सम्मान है तो सम्मान के कॉलम में सम्मानों की संख्या लिखना गौरवप्रद है क्या? यदि सम्मानों की स्थिति यही है तो क्यों इनका कॉलम रखा जाता है? इसका तो अर्थ यह हुआ कि सही साहित्यकार (जो अपना सम्मान प्रायोजित नहीं कराता, नहीं करा सकता) उन साहित्यकारों के सामने महत्त्वहीन है जो अपना सम्मान प्रायोजित कराते रहते हैं। फिर इस कॉलम का क्या किया जाए? क्यों इसके आगे बार-बार परेशान हो उठता हूँ, और फिर दो-तीन दिन से परेशान हूँ। छोड़ो इस कॉलम को....

यों ही कुछ देर अन्यमनस्क बैठा रहा। फिर आज का दिन मेरी स्मृति में उतर आया। सुबह घूमने गया था। मुझे देखकर कुछ लोग परस्पर बात करने

लगे—देखिए सौरभजी जा रहे हैं, बहुत अच्छे लेखक हैं।

नाशता करके बैठा ही था कि एक युवक उपस्थित हुआ। बोला—“मैं कोल्हापुर से आया हूँ। आपका साहित्य पढ़ता रहता हूँ, मुझे बहुत अच्छा लगता है। यहाँ आया तो आपसे मिले बिना नहीं रहा गया।”

आज की डाक से कई पत्र आए। एक ने लिखा था कि वह मेरी ‘रोटी’ कहानी का असमी में अनुवाद करना चाहता है, अनुमति चाहिए। पाठकों के पत्र थे; उन्हें सद्यःप्रकाशित मेरी कविता बहुत पसंद आई थी। एक पत्र एक शोधार्थी का था। वह मेरे उपन्यासों पर पी-एच.डी. का शोधकार्य कर रहा है, उसकी कुछ जिज्ञासाएँ थीं।

आज बस में आते-आते एक आदमी टकरा गया। वह मुझे ध्यान से देखता रहा। फिर बोला—“आप सौरभजी तो नहीं हैं?”

“हाँ, हूँ तो।”

“वाह, क्या बात है! मैं तो आपकी रचनाओं का मुरीद हूँ, खोज-खोजकर पढ़ता हूँ और दूसरों को पढ़वाता हूँ।”

“लेकिन आपने मुझे पहचाना कैसे?”

“अरे, पत्र-पत्रिकाओं तथा आपकी पुस्तकों में आपकी फोटो इतनी बार देखी है कि आपको देखते ही पहचान गया।”

“आप यहाँ कहाँ रहते हैं?”

“अरे यहाँ कहाँ रहता हूँ। यहाँ रहता तो आपसे कई बार मिल चुका होता। मैं तो बिहार से आया हूँ दिल्ली, एक काम से। मगर सौभाग्य देखिए कि मैं टकरा गया अपने प्रिय लेखक से।”

मैं भीतर तक भर गया।

यह आज की ही बात नहीं है, प्रायः हर दिन कुछ इसी तरह का होता है। एकाएक मेरे मन में कुछ कौंधा। मैं मुसकराया और आज की साहित्यिक दिनचर्या की एक सूची बनाकर फॉर्म के साथ जोड़ दी और सम्मानवाले कॉलम के आगे लिख दिया—‘एक अलग सूची-पत्र संलग्न’।



नेता



उस दिन मेरे एक राजनेता मित्र के यहाँ एक ठिगना-सा युवक दिखाई पड़ा। ठेठ पुरबिहा हुलिया था। मेरे मित्र ने परिचय कराया—“ये हैं शिवदत्त दूबे एम. पी.। ये आपके ही जिले के हैं।”

“अरे हाँ भाई, इनके तो बड़े नाम हैं!”

“धन्यवाद, और आप?” उन्होंने पूछा।

“हाँ, और ये हैं प्रोफेसर नीलकमल।”

एम.पी. साहब ने हाथ जोड़ दिए और अपने दिमाग पर जोर देते हुए-से बोले—“मुझे लगता है कि आप कुछ लिखते भी हैं। मैंने आपको पढ़ा है।”

मैं कुछ बोला नहीं, केवल मुसकराता रहा। मेरे मित्र अंदर चले गए थे।

“क्यों, मैं गलत कह रहा हूँ?” दूबेजी ने पूछा।

“नहीं, आप गलत कैसे कहेंगे? आप जनता के प्रतिनिधि हैं। लेकिन आपने मेरा क्या पढ़ा है?”

“अब यह तो मुझे याद नहीं है, लेकिन आपकी चीजें मेरी नजरों से गुजरती रही हैं।”

“चलिए, इतना बहुत है, बंधु। लेकिन है अद्भुत!”

“अद्भुत क्या?”

“यही कि आज के युग में भी किसी नेता का साहित्य के साथ थोड़ा-बहुत संबंध बना रह जाए और कोई नेता किसी साहित्यकार को उसकी रचना के माध्यम से पहचानने का प्रयत्न करता हो।”

“चलिए, दूबेजी मीटिंग का समय हो गया।” कहते हुए मेरे मित्र आ गए और बोले—“माफ कीजिए भाई साहब, प्रधानमंत्री के साथ एक मीटिंग है।”

“अरे भाई, मुझे तो खुद जाना था, देर हो रही थी, आपके निकलने की प्रतीक्षा कर रहा था।”

में लौटने लगा तो शिवदत्त दूबे मेरे भीतर उछल-कूद करने लगे। संसद् में दिए गए उनके कुछ वक्तव्यों की याद आई। उनकी भाषा, उनकी बात, उनकी भंगिमा, उनके लहजे से संसद् का तो मनोरंजन होता ही है, अखबारों को भी खूब मसाला मिलता है और पाठक भी खूब लुत्फ उठाते हैं।

दूबेजी को इतना ही ध्यान रहता है कि उनके क्षेत्र के लोग समझें कि उनका सांसद् कितना ताकतवर है, संसद् में दहाड़ता रहता है, अखबारों की सुखियों में छाया रहता है।

दूबेजी के बारे में कुछ सुन तो रखा था; किंतु इस बार जब मैं अपने शहर गया तो वहाँ के विश्वविद्यालय के अपने कुलपति मित्र जोशीजी से मिलने चला गया। वे पहले वहीं राजनीति विभाग के अध्यक्ष रहे थे। जाने कैसे दूबेजी का नाम आ गया। जोशीजी ठठाकर हँसे।

कुछ देर बाद बोले—“जानते हो, इसे मैंने कई बार अपनी कक्षा से और दो बार विश्वविद्यालय से निकाला था।”

“क्यों भला?”

“अरे, संसद् में उसका उछलना-कूदना देखकर भी कारण पूछना बाकी रह गया है?”

“तो भी।”

“अरे, यह तो तुम आसानी से समझ ही रहे होगे कि यह छात्रनेता रहा होगा। छात्रनेता भी दो तरह के होते हैं। एक वे होते हैं जो कुछ पढ़े-लिखे भी होते हैं, कुछ तेजस्वी होते हैं, कुछ समझदार होते हैं और समस्याओं की पहचान कर पाते हैं। आखिर आज के नेता जो मंत्री हैं और देश का भला-बुरा संचालन कर रहे हैं वे भी तो छात्रनेता ही थे। इन्हें नासमझ तो नहीं कहा जा सकता। दूसरे नेता वे हैं जो कुछ नहीं होते हैं तो नेता बन जाते हैं और वे समझते हैं कि मंचों से चीखना-चिल्लाना, हड़ताल कराना, मारपीट करना-कराना, बेहूदी हरकतें करना, निर्लज्ज भाव से अपनी बेवकूफियों का प्रदर्शन करना, क्तास में न जाकर कॉफी हाउस या टी-स्टॉलों पर बैठे रहना ही नेता होने की निशानी है। यह दूबे इन्हींमें से एक है। इसकी इन्हीं हरकतों के कारण इसे मैंने दो बार निकाला था, लेकिन इसके नेता पिता गिड़गिड़ाए तो इसे सुधरने का एक मौका और देना पड़ा।”

“यानी जैसा बाप, वैसा बेटा।”

“नहीं-नहीं, इसके पिताजी पुराने जमाने के कांग्रेसी रहे हैं—जब राजनीति के साथ मूल्य जुड़े थे। वे उस जमाने के एम. ए. हैं और प्रसिद्ध वकील रहे हैं। अरे, तुम जानते होंगे यशराजजी को।”

“अच्छा-अच्छा, तो ये उनके सुपुत्र हैं। अरे, वे तो बहुत यशस्वी व्यक्ति रहे हैं। उनकी समझ और शराफत का क्या कहना!”

“हाँ, इसीलिए जब वे मेरे पास आते थे तो उनके नाते मुझे इसे एक अवसर और देना ही पड़ता था। लेकिन……”

“लेकिन क्या?”

“अरे भाई, वही ढाक के तीन पात! यह नहीं सँभला। इसके पिताजी बहुत दुःखी हो गए। उन्हें लगा कि यह लड़का तो क्रिमिनल होता जा रहा है। बाहर तो उत्पात किए ही हुए था, उनके लिए भी आतंक बन गया। जब वे समझाते थे तो उनकी गांधीवादी राजनीति को गाली देता था। उनसे पैसे वसूलता था और अपने गलत कामों की सिफारिश कराना चाहता था। वे मना करते थे तो उनसे झगड़ता था, उन्हें अपशब्द कहता था।”

“फिर?”

“वे एक दिन मेरे पास आए और हताश से बोले—‘क्या बताऊँ, कुलपतिजी, मेरी यह इकलौती संतान न जाने मुझे किस जनम के पाप की सजा दे रही है। यह लड़का तो कुछ भी नहीं बन सका और जो बन रहा है, वह बहुत अप्रिय है। आप ही कुछ सुझाइए।’

“उस दिन मेरी कुंडलिनी जाग्रत हो गई, बंधु, और यशराजजी से मैं बोला—‘आप निराश न हों दूबेजी, रास्ता मिल गया। आपका पुत्र बहुत योग्य सिद्ध होगा।’

“उन्होंने मेरी ओर इस तरह देखा जैसे मैं मजाक कर रहा होऊँ। और जानना चाहते रहे कि मैं आगे क्या कहता हूँ। मैंने कहा, ‘आप इसे इस बार चुनाव में टिकट दिला दीजिए।’

“‘अरे, इसे टिकट कौन देगा?’

“‘देखिए, आपको तो टिकट मिलेगा ही। इस बार आप अपने टिकट का त्याग कीजिए और अपने प्रभाव से अपना टिकट उसे दिला दीजिए।’

“‘आप भी क्या मजाक कर रहे हैं, कुलपतिजी! उस नालायक को टिकट कैसे मिलेगा? और उसे वोट कौन देगा?’

“‘जैसे तमाम नालायकों को मिल रहा है; जैसे तमाम खूनी, डकैत, अपराधी टिकट पा रहे हैं वैसे यह भी पा जाएगा। और वैसे ही जीत भी जाएगा।’

“‘पाते हों तो पाएँ, मैं इसके लिए टिकट की सिफारिश नहीं करूँगा। इसका जनाधार भी क्या है!’

“‘अरे छाड़िए दूबेजी, यह सारा नैतिक ऊहापोह। अरे, जब पूरी राजनीति

हो इसी ओर जा रही है तो आप इसे कब तक बचाइएगा ?'

“ ‘नहीं-नहीं, यह नहीं होगा ! मैं इस नालायक को टिकट नहीं दिलाऊँगा !’ कहते हुए दूबेजी चले गए। लेकिन लगता था कि मेरे ज्ञान का बाण उनके भीतर कहीं चुभ गया था। और एक दिन सुनाई पड़ा कि शिवदत्त चुनाव लड़ रहा है।’

“तब ?”

“अरे, तब क्या ! वह चुनाव लड़ा और जीत गया। विश्वविद्यालय की उसकी गुंडापार्टी ने उसका खूब प्रचार किया। खूब गुल खिलाए। खूब जाली वोट डलवाए, बूथ कैप्चर किए।”

“वाह, क्या कहने हैं !”

“तब जानते हो क्या हुआ ? एम.पी. बनने के बाद वह एक दिन मुझसे मिलने आया। मैंने उसे भीतर बुला लिया। वह आया तो मैंने कहा—‘बैठिए।’ वह बोला—‘सुनो जोशी, अब मैं तुमसे बड़े पद पर हूँ। मेरे आते ही तुम्हें कुरसी से उठ जाना चाहिए था।’

“ ‘भूल हुई सर, ये लीजिए, मैं खड़ा हो गया। अब आप बैठें तो मैं बैठूँ।’

“वह अकड़कर कुरसी पर बैठ गया और बोला—‘तुम्हें याद है, तुमने दो बार मुझे निकाला था ? अब मैं तुम्हें निकालूँगा।’

“ ‘यह तो बहुत अच्छी बात होगी, सरकार ! मैं तो छोड़ना चाहता हूँ यह पद, लेकिन कुरसी ही मुझे नहीं छोड़ती। आप मुक्ति दिला दें तो आपकी यह कृपा होगी।’

“ ‘ठीक है, ठीक है देखूँगा।’ कहकर वह चला गया और मैं अकेले में हँसता रहा, हँसता रहा। मेरा पी.ए. बहुत आहत लग रहा था। बोला—‘सर, इसे निकाल क्यों नहीं दिया, बड़ी बदतमीजी दिखा रहा था !’

“ ‘अरे भाई, अब वह छात्रनेता नहीं है, एम.पी. है। उसे इस तरह निकाल देना आसान नहीं है, और निकाल देता तो यह आनंद कहाँ मिलता, जो मिला है ! यह हँसी कहाँ मिलती जो वह दे गया है। अरे भाई, ऑफिस से कुछ अलग हटकर भी जीना सीखो। और आखिर यह अपना ही बच्चा है।’ मैं फिर हँसने लगा। इस बार पी.ए. भी हँसने की सजा भुगतने लगा।”

जोशीजी की बात सुनकर मैं भी हँसने लगा। वे भी हँसने लगे।

हँसी से उबरे तो जोशीजी बोले—“बड़ा अहमक है दूबे।”

“लेकिन एक बात है, भाई, जिसके लिए इसकी बदतमीजियाँ माफ की जा सकती हैं।”

“वह क्या ?” आँखों में हँसी कसे हुए जोशीजी बोले।

१०० ♦ नेता

“भाई, इस जमाने में बड़े-बड़े दिग्गज नेताओं का साहित्य से कोई वास्ता नहीं रह गया है और वे साहित्य-संस्कृति के भयानक अज्ञान से अपने को मंडित किए हुए इस सांस्कृतिक देश का दर्प के साथ नेतृत्व कर रहे हैं, तब यह छोटा आदमी किसी साहित्यकार को उसके साहित्य के माध्यम से पहचानने की कोशिश तो कर रहा है।”

जोशी आँखों में शरारत भरे मुझे देख रहे थे।

“और क्या इत्तफाक था, बंधु, कि इस आदमी से भेंट होने से पूर्व मैं एक साहित्यिक समारोह से लौटा था। वहाँ एक बड़े नेता पधारे हुए थे। चायपान के वक्त लोग परस्पर मिल-जुल रहे थे। वे नेता कुछ क्षण के लिए अकेले हुए तो मैं उनके पास पहुँचा और उन्हें अपना परिचय दिया। और परिचय भी इसलिए दिया कि नेता साहित्यकार के रूप में भी जाने जाते हैं, यानी किसी समय पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ भी छपी थीं। मैं कभी इन लोगों से मिलता-जुलता नहीं; लेकिन इतनी तो उम्मीद करता ही हूँ कि ये लोग, और खासकर साहित्यिक छवि धारण करनेवाले लोग मुझे जानते ही होंगे, जानना ही चाहिए। लेकिन जब उस नेता को अपना परिचय दिया तो वह चुप रहा। उसके चेहरे पर कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई। इच्छा हुई कि कॉफी उसके मुँह पर फेंककर सरक जाऊँ। सरक तो आया, किंतु कॉफी कैसे फेंक सकता था। इस खिन्न मानसिकता में जब अपना यह दूबे मिला और मेरे साहित्य की बात की तो ताज्जुब भी हुआ और खुशी भी। यह मामूली नेता मेरे साहित्य को जानता तो है।”

“चलिए वह किसीके साहित्य को जानता हो या न जानता हो, आपके साहित्य को तो पहचान ही गया।”

जोशीजी व्यंग्य से मुसकरा रहे थे।

“आखिर साहित्य किसका है!” कहकर मैं भी मुसकराया।

“और आखिर शिष्य किसका है!” जोशीजी फिर मुसकराए और हमारी मुसकानें ठहाके में बदल गईं।



सच है बुड्ढी, सच है



“तुमने यह समाचार पढ़ा?” खाना खाते हुए मैंने पत्नी से पूछा।

“अरे अभी कहाँ! चूल्हा-चक्की से फुरसत मिले तब न अखबार पढ़ने की बारी आए। वैसे कोई खास बात है क्या?”

“हाँ, आज एक और मंत्री का नाम करोड़ों के घोटाले में उछला है।”

“उछलता रहे जी, कौन क्या कर लेगा!”

“हाँ, भारत माँ बूढ़ी हो गई है और असहाय। उसके पास जो संपत्ति है उसे उसके कुछ सपूत कहे जानेवाले मिलकर छीन रहे हैं और परस्पर बाँटकर खा रहे हैं।”

“हाँ, लगता है, एक गिरोह बन गया है इनका।”

“और इस गिरोह में शामिल हैं बड़े-बड़े सेठ-साहूकार, बड़े-बड़े मंत्री, बड़े-बड़े तांत्रिक, बड़े-बड़े स्मगलर और न जाने कौन-कौन लोग!”

“और भारत माँ जैसे अपने गरीब बच्चों को आँचल में छिपाए हुए चिल्ला रही हैं—‘ये लुटेरे मुझे लूट रहे हैं। मेरे गरीब बच्चों के दूध, अन्न, पानी, दवा-दारू, मकान, दुकान के लिए जो संपत्ति मेरे पास है उसे लूटकर खा रहे हैं; और ऊपर से इतना शोर कर रहे हैं कि मेरी आवाज दबी जा रही है। हाय, मैं क्या करूँ?’”

“ठीक वही बात।”

“कौन-सी बात?”

“अरे मैंने एक दारुण कहानी सुनी थी। लगता है, अब वैसी सारी कहानियाँ सच हो रही हैं।”

“कौन-सी कहानी थी?”

“एक बुढ़िया माई थी। पति मर चुके थे। बच्चे उसे छोड़कर विदेश में बस गए थे। उसके पास पति की छोड़ी हुई अच्छी-खासी पूँजी थी, जिसे उसने अपनी

१०२ ❖ सच है बुढ़ी, सच है

वसीयत में एक अनाथालय के नाम कर रखा था। अपने लिए बहुत कम खर्च करती थी। किसीको वसीयत का पता नहीं था। इसलिए लोग सोचते थे कि बड़ी कंजूस है यह बुढ़िया।"

"तब?"

"एक दिन उसके कुछ सगे-संबंधी वेश बदल-बदलकर बाजे-गाजे के साथ उसके घर पहुँचे। रास्ते-भर बुढ़िया माई की जय बोलते गए। लोगों ने समझा कि कुछ लोग उसका सम्मान करने जा रहे हैं; वैसे भी लोग उसे कंजूस समझकर उसके बारे में अनासक्त थे।"

"अरे, यह तो अद्भुत कहानी लग रही है।"

"हाँ, तो लोग जब बुढ़िया माई के घर पहुँचे तो उससे बोले—'चलो माई, तुम्हें तीर्थयात्रा करा लाएँ।'

"बुढ़िया माई के मना करने पर लोगों ने उसे उसकी खाट से बाँध दिया और उसी खाट पर बिछे बिस्तरे के बीच में उसके यहाँ संचित नोटों और गहनों को छिपा दिया। फिर उसकी खाट को कंधे पर उठाकर ले चले। जब वे चले तो बाजे जोर-शोर से बजने लगे और बुढ़िया माई की जय के नारे लगने लगे। बुढ़िया माई खाट पर पड़ी-पड़ी चिल्लाती रही—'अरे ये सब ठग हैं, लुटेरे हैं, मुझे बाँधकर ले जा रहे हैं। मेरी सारी संपत्ति लूट ली है।'

"जैसे ही बुढ़िया माई बोलती थी, सारे लुटेरे जोर से चिल्ला उठते थे—'सच है बुढ़ी, सच है।' बुढ़िया माई की आवाज बाजे-गाजे के शोर में ऐसी दब जा रही थी कि लोगों तक मुश्किल से पहुँचती थी। दूसरे, लोग यह भी देख रहे थे कि ये लोग बुढ़िया माई की बात को 'सच है, सच है' कहकर ताईद कर रहे हैं। अतः लोगों को लग रहा था कि यह एक मनोरंजक प्रहसन है। वे हँस रहे थे, आनंद ले रहे थे। वे समझ रहे थे कि यह उनका आपसी मामला है।

"सबके सामने बुढ़िया माई निरुपाय-सी चिल्लाती रही और दिन-दहाड़े ठग उसे उठाकर दूर चले गए। कुछ दूरी पर एक जंगल था। वहाँ उसे ले जाकर छोड़ दिया और बिस्तर के बीच में छिपी सारी संपत्ति लेकर रफू-चक्कर हो गए।

"बुढ़िया माई रोती-कलपती घर लौटी तो लोगों को असलियत का बोध हुआ। तब तक बहुत देर हो चुकी थी। अनाथालय के लिए रखी हुई सारी पूँजी ऊँचे ठगों की तिजोरी में चली गई।"

"हाय री भारत माता!" कहकर मैंने पत्नी की ओर देखा। उनकी आँखें नम थीं और वह उठकर चौके में चली गई।



इज्जत



“सभी मिल-जुलकर देश की इज्जत खा रहे हैं।” चाय पीते-पीते मैंने अपने अतिथि श्रीनाथ की ओर देखा और पूछा—“क्या बात है, भाई?”

“तुमने यह समाचार पढ़ा?” श्रीनाथ ने पूछा।

“कौन-सा?”

“अरे यही।” उसने अखबार के एक समाचार पर हाथ पटकते हुए कहा।

“हाँ, पढ़ा।” मैंने मुसकराते हुए कहा।

“फिर भी तुम मुसकरा रहे हो!”

“हाँ, बंधु, अपने को बचाए रखने का अब यही साधन रह गया है। कितना रोइए-झल्लाइएगा, किस-किस पर चीखिए-चिल्लाइएगा? हवा के झोंके से जिस किसीकी टोपी गिर जाती है, उसीके सिर पर एक सींग दिखाई पड़ता है; जिस किसीकी धोती या पैंट खुल जाता है, एक पूँछ नजर आती है। और मैं तो बहुत पहले से इस आदमी को जानता हूँ।”

“बहुत पहले से?”

“हाँ, बचपन से ही।”

“बचपन से?”

“हाँ, यह तो मेरे गाँव का है।”

“तब तो तुम इसका पूरा इतिहास ही जानते होगे?”

“हाँ, जानता हूँ, तभी तो हँस रहा हूँ।”

“तो कुछ मुझे भी पुण्य-लाभ कराओ इस महापुरुष की कथा सुनाकर।”

“अरे छोड़ो यार, ऐसी कोई विशेष कथा नहीं है, जिसे तुम नहीं जानते होगे। तुम्हारे यहाँ से जो नेता दिल्ली में आए होंगे, उनकी भी कथा कुछ ऐसी ही होगी। दूसरों के यहाँ से जो आए होंगे, उनकी भी कुछ ऐसी ही होगी।”

“नहीं दोस्त, सबकी कथा एक-सी दिखती हुई भी कहीं-न-कहीं कुछ

विशेष तो होती ही है।”

“हाँ, सही कह रहे हो। कोई राजघराने से आता है, कोई फिल्म जगत् से आता है, कोई प्रसिद्ध राजनेता परिवार का होता है, कोई अवकाशप्राप्त अफसर होता है, कोई बेकारी से तंग होकर आता है, कोई सीधे खेत में से पकड़ लिया जाता है, कोई चमचा बनते-बनते आ जाता है, कोई स्मगलिंग और गुंडई करते-करते। लेकिन अनेक इस बात में समान होते हैं कि यहाँ आने पर सबकी अर्थ-पिपासा का मुँह सुरसा की तरह खुल जाता है और फैलता ही जाता है। उसमें समाती जाती है—देश की दौलत, इज्जत, शांति, समरसता। बहुत थोड़े लोग रह गए हैं, बंधु, जो सच्चे मन से जनसेवा में तपकर आते हैं।”

“तो फिर शुरू करो न इस महापुरुष की पुण्य कथा।”

“कथा बहुत बड़ी नहीं है, और बड़ी भी है जितनी उसकी जिंदगी; किंतु मुनाऊँगा केवल एक प्रसंग, जो कहीं उसकी परवर्ती जीवन-यात्रा को प्रतीकार्थ देता है।”

“हाँ तो……”

तब तक फोन की घंटी बजी। मैं उठने ही वाला था कि पत्नी ने मुझे रोकते हुए कहा—“आपका नहीं, भाई साहब का फोन है, कोई मित्र इनसे बात करना चाहते हैं।”

श्रीनाथ फोन सुनने चला गया तो आज के अखबार में के. प्रसाद के बारे में छपे समाचार का जलता हुआ शीर्षक मेरी आँखों में उतरा गया—‘राजनेता देश की इज्जत खा गया’। फिर नीचे की पंक्तियाँ चींटों की पंक्तियों की तरह आँखों में रेंगने लगीं—

‘एक भारतीय सांस्कृतिक महोत्सव में के. प्रसाद बर्लिन गए थे। उत्सव स्थल पर भारत की विविध छवियों का प्रदर्शन हो रहा था और भारतीय वस्तुओं की खरीद के लिए विदेशियों की भीड़ उमड़ी हुई थी। उस समय के. प्रसाद बर्लिन के शॉपिंग सेंटर में विदेशी वस्तुएँ खरीदने के लिए चक्कर काट रहे थे। इलेक्ट्रॉनिक की एक दुकान पर काफी भीड़ थी। उन्होंने जूम कैमरा देखते-देखते चुपके से अपने बैग में रख लिया और वहाँ से सरकने लगे। दुकानदार के आदमी ने देख लिया था। उसने समझा कि कैशियर के पास जा रहे हैं। जब देखा कि वे दूसरी दुकान की ओर सरक गए हैं तो मालिक के कान में कहा। मालिक ने आकर पकड़ लिया और कैमरा बैग से निकाल लिया। प्रसाद वेशमी से बोले—‘अरे भुगतान करना भूल गया।’ पुलिस बुलाई गई। जब पुलिस को ज्ञात हुआ कि ये राजनेता हैं तो उसने भारतीत्सव के अधिकारी को फोन किया। अधिकारी के क्षमा माँगने पर वे छोड़े गए।’

“हाँ तो बंधु, सुनाओ।” फोन से आकर श्रीनाथ ने कहा।

“बहुत उत्सुकता है पुण्य कथा सुनने की? तो सुनो।

“के. प्रसाद का असली नाम कतवारू प्रसाद है। वे पढ़ाई-लिखाई में बहुत भोंदू थे। बहुत मुश्किल से उन्होंने दर्जा सात पास किया था। लेकिन लड़कों की कलम-पेंसिल-रबर आदि चुरा लेने में बड़े उस्ताद थे। घास उखाड़ते हुए दूसरों के खेत से फसल उखाड़ लाते थे, इसलिए इनकी छवि भोंदू की तो थी ही, चोर की भी थी। वे बीस साल के हो गए, लेकिन शादी नहीं हुई। घरवाले परेशान थे। आखिर शादी घर की प्रतिष्ठा का सवाल होती है। शादियाँ आती थीं, कोई इन्हें पूछता नहीं था। यदि कोई शादी तय भी होती थी तो लोग चुपके से काट देते थे। आखिर एक शादी फँस ही गई।

“जब कतवारू प्रसाद शादी के लिए जाने लगे तो उनके चाचा ने समझाया कि ‘देखो बेटा, ससुराल में दोबारा खाना मत माँगना और जो खाना आए उसमें थोड़ा छोड़ देना।’ कतवारू प्रसाद बोले, ‘क्यों, चाचा?’ चाचा बोले, ‘बेटा, उसे इज्जत कहते हैं।’ ‘इज्जत?’ कतवारू प्रसाद भुनभुनाए। ‘हाँ, इज्जत। इसका मतलब होता है कि तुम भुक्खड़ नहीं हो। इसका एक मतलब यह भी होता है कि तुम्हारे खाने में दूसरे का भी हिस्सा होता है। छूटा हुआ खाना, आदमी न सही, पशु तो खा सकते हैं।’

“ ‘समझ गया, समझ गया, चाचा।’

“ ‘कतवारू प्रसाद ने पहले दिन शाम को खाने में इज्जत छोड़ दी। दूसरे दिन दोपहर को भी इज्जत छोड़ दी। लेकिन भूख के मारे बुरा हाल हो रहा था। दूसरे दिन शाम को खाते-खाते वे शायद सोच रहे थे कि काश, चुपके से दूसरों की थाली में से ढेर सारा खाना अपनी थाली में डाल लेते। यही सोचते-सोचते वे अपना खाना समाप्त करने को आए। थोड़ी-सी इज्जत बची रही। वे शायद बार-बार सोचते रहे कि इज्जत को भी खा जाएँ, लेकिन चाचा के डर से उसे छोड़े रहे। जब नहीं रहा गया तो बोले—‘ए चाचा, इज्जतियो खा जाऊँ?’

“ ‘आसपास के लोग सुनकर हँसने लगे। चाचा ने गुस्से से कहा—‘अरे ससुरा, खा तो गया इज्जतिया, अब क्या बाकी है!’ ”

“ ‘लेकिन यह आदमी, राजनेता!’ ”

“ ‘हाँ, लेकिन-वेकिन कुछ नहीं। जैसे ऐसे तमाम लोग तमाम कारणों से नेता बन जाते हैं, वैसे ही ये भी कतवारू प्रसाद से नेता के. प्रसाद बन गए। आखिर इन्हें जर्मनी जो पहुँचना था।’ ”

श्रीनाथ हँसने लगा। मैं भी हँसने लगा। फिर दोनों मिलकर हँसने लगे और हँसते-हँसते आँखों में आँसू आ गए।



डाल से लटका हुआ



गेट खड़का। देखा, एक युवक खड़ा है।

“आ जाइए।” मैंने कहा।

वह आया तो मैंने सवालिया निगाहों से पूछा—“कहिए?”

“जी, मेरा नाम पुनीत चौधरी है। दरभंगा से आया हूँ।”

“बैठिए-बैठिए। किसी विशेष प्रयोजन से आए हैं?”

“जी नहीं, बहुत दिनों से आपसे मिलने की इच्छा थी। दिल्ली आने का एक सुयोग मिला तो आपसे मिले बिना नहीं रह सका। आपका फोन नंबर मुझे मालूम नहीं था, नहीं तो समय लेकर आता। क्षमा करेंगे, यदि मेरे कारण आपको कोई असुविधा हुई हो तो।”

“अरे नहीं, कोई बात नहीं।” मुझे असुविधा तो हुई थी। कुछ लिख रहा था, उसी बीच वह टपक पड़ा था; किंतु उसका व्यवहार देखकर असुविधा से उत्पन्न उद्विग्नता धुल गई थी।

प्रसन्न भाव से पूछा—“कुछ लिखते भी हैं?”

“जी, कुछ प्रयास तो करता हूँ, लेकिन कोई छापता ही नहीं।”

“क्या लिखते हैं?”

“कविताएँ लिखता हूँ, कुछ कहानियाँ भी लिखी हैं।”

“कुछ कविताएँ सुनाइए।”

“जी नहीं, आपका बहुत समय बरबाद करना नहीं चाहता। आपसे कुछ बात करना चाहता हूँ।”

“नहीं, मेरे समय की चिंता मत कीजिए, कुछ कविताएँ सुनाइए।”

उसने संकोच से कुछ कविताएँ सुनाई। मुझे बहुत पसंद आई। ठेठ गाँव का सच उसके अनुभवों के माध्यम से उभरा था। भाषा में भी एक खुरदरा टटकापन था।

“आप तो बहुत अच्छी कविताएँ लिखते हैं।”

“जी, धन्यवाद। आपको ये कविताएँ अच्छी लगेंगी, इससे मेरा उत्साह बढ़ा है; लेकिन इन्हें कोई छापता ही नहीं। या तो लौट आती हैं या संपादकों की चुप्पी में खो जाती हैं।”

“इससे निराश नहीं होते, मित्र! सभी लोग इस दौर से गुजरते हैं। आपकी कविताएँ बहुत अच्छी हैं। आज नहीं तो कल प्रकाश में जरूर आएंगी।”

“मुझे इस बात से व्यथा ज्यादा होती है कि मेरे ही आसपास के, मेरी ही उम्र के तमाम लोगों की ऐसी रचनाएँ छपती हैं जो मेरे दृष्टिकोण से मेरी रचनाओं से अच्छी नहीं होतीं। मैं उनके परिप्रेक्ष्य में अपनी रचनाओं को देखता हूँ तो समझ नहीं पाता, इनमें क्या खोटा है जो नहीं छपती।”

“खोटा रचनाओं में नहीं है, आपमें है।” मैं हँसा।

“मुझमें?”

“हाँ, आपमें। आप उन लोगों के आदमी नहीं बने, जो रचनाओं के छपने से लेकर उनके चर्चित-पुरस्कृत होने तक का सारा निर्णय करते हैं। अब देखिए, आप मुझसे मिलने चले आए और मैं आपको कुछ नहीं दे सकता, सिवाय इसके कि आपकी रचनाएँ पढ़-सुनकर अपनी सही राय दे सकूँ। इस शहर में उन लोगों से मिलिए, संपर्क बढ़ाइए जो साहित्य के मालिक हैं।”

वह चकरा-सा गया। उसने समझा कि मैं मजाक कर रहा हूँ या कोई बेतुकी बात कर रहा हूँ।

“नहीं भाई, मैं आपको सही राय दे रहा हूँ।” मैंने उससे फिर कहा।

कुछ देर बाद वह साहित्यिक समस्याओं पर बात करने लगा। इस प्रक्रिया में उसने कहा—“मैं एक बात नहीं समझ पाता।”

“कौन-सी बात?”

“यही कि नई पीढ़ी में कुछ लोग बहुत जोर-शोर से उठते हैं, उनकी दो-चार कहानियाँ या कविताएँ आती हैं, खूब चर्चित होती हैं, महान् बना दी जाती हैं; और वे रचनाकार फिर चुप हो जाते हैं, बाद में उनका कुछ आता ही नहीं।”

मैं ठठाकर हँसा।

वह चौंककर देखने लगा।

“क्यों, हँस क्यों रहे हैं?”

“इसलिए कि ये सवाल तो मुझे भी मथते हैं; बल्कि हम सबको मथते हैं। हम भी सही-सही उत्तर नहीं निकाल पाते।”

“नहीं सर, यह सवाल आपको या आप सबको मथ रहा है तो आपने

१०८ ♦ डाल से लटका हुआ

निश्चय ही इसपर कुछ सोचा होगा।”

“हाँ, सोचा क्यों नहीं है!”

“तो कुछ बताइए न!”

“लीजिए, आपको बचपन की एक घटना सुनाता हूँ।”

उसे शायद लगा कि यह क्या बात हुई। मैं उत्तर माँग रहा हूँ, ये घटना सुना रहे हैं। फिर भी उसने कहा—“ठीक है, सुनाइए।”

“गाँव में मेरे घर के पिछवाड़े अमरूद का एक पेड़ था। मेरे घर के पीछे के घर में इस पेड़ के मालिक महेश रहते थे। उनकी माँ बहुत तेज स्वभाव की थीं। हम बच्चे उनसे बहुत डरते थे। अमरूद के पेड़ की असली मालकिन वे ही थीं। उन्हें अपने आँगन में बैठे-बैठे जैसे ही यह भनक मिलती कि अमरूद के पेड़ पर कुछ हो रहा है, ताड़का की तरह चीखती-चिल्लाती, भागी-भागी आती थीं और बच्चों की सात पुश्तों को अपनी भयानक गालियों की माला पहना देती थीं।

“हम बच्चे उनसे बहुत डरते थे; लेकिन अमरूद भी तो खाना होता था, इसलिए लुक-छिपकर वहाँ पहुँच ही जाते थे। हमारे वहाँ पहुँचने और महेश की माँ की गालियों का संघर्ष छिड़ा ही रहता था। हम लोगों का एक दोस्त था नत्थूराम। वह परम विदूषक था। एक दोस्त थे संग्राम शुक्ल। वे अपंग थे, जमीन पर हाथ-पैर मारते हुए चलते थे।

“एक दिन हम कई मित्र पेड़ के पास जमा हुए। संग्राम ने नत्थूराम से कहा—‘नथुवा, अमरूद खाने की इच्छा हो रही है।’

“‘यह तो अच्छी बात है, संग्राम बाबा।’

“‘अच्छी बात तो है, लेकिन खाएँ कैसे?’

“‘अरे इसमें कौन मुसीबत की बात है। पेड़ पर चढ़ जाइए, खुद खाइए और नीचे फेंकिए हम लोगों के लिए।’

“‘अरे तू पागल हो गया है! मैं पेड़ पर चढ़ूँगा! मैं कैसे पेड़ पर चढ़ूँगा रे?’

“‘देखिए संग्राम बाबा, मैं आपको अपने कंधे पर बिठा रहा हूँ। आप लपककर वह डाल पकड़ लीजिए और चढ़ जाइए। फिर मजे में अमरूद खाइए।’

“संग्राम मान गए। नत्थूराम ने उन्हें अपने कंधे पर बैठाया। हम लोगों ने सहायता की। सबने मिलकर उन्हें थोड़ा ऊँचा उठाया। उन्होंने डाल पकड़ी और फिर डाल पर बैठ गए। दो-तीन अमरूद तोड़े और हमें दिखा-दिखाकर खाने लगे—‘वाह, क्या बढ़िया अमरूद हैं, नत्थू!’

“तब तक लगा कि ताड़का आ रही हैं। हम सब भाग खड़े हुए। मैं तो अपने घर में जाकर छिप गया और जंगले से दृश्य देखने लगा। संग्राम हड़बड़ाकर डाल से कूदने लगे, लेकिन कूदें कैसे? डाल पकड़कर लटक गए; लेकिन उन्हें लगा कि अगर डाल छोड़ी तो नीचे गिरकर अपनी रही-सही हड्डी-पसली भी तोड़वा लेंगे। इसलिए चमगादड़ की तरह डाल पकड़कर लटके रहे। महेश की माँ ने उन्हें देखा तो चिल्ला पड़ी—‘अरे संगरमवा, तू मरकीनवना पेड़ पर कैसे चढ़ गया रे?’

“‘अरे दादी, चढ़ा नहीं, चढ़ाया गया हूँ।’

“‘किसने चढ़ाया रे, उसकी खोज-खबर लेती हूँ!’

“‘अरे वह तो बाद में लीजिएगा, पहले मुझे उतरवाइए। मुझे नथुवा फँसा गया, दादी!’

“अब महेश की माँ ने नत्थूराम की सात पुश्तों की आरती उतारनी शुरू की।

“‘अरे दादी, मुझे उतरवाइए। मेरा हाथ अब छूट रहा है।’

“‘तू ऐसे ही लटका रह, मरकीनवना। न जमीन पर आ, न पेड़ पर।’

“वे गरगराती हुई नत्थू के घर की ओर चली गई और उस पेड़ के पास से गुजरते हुए लोगों ने संग्राम को उतारा। संग्राम उतार तो लिया गया, किंतु मुझे लगता है कि वह अभी भी उसी तरह टँगा हुआ है। उसे धरती पर उतरते हुए डर लगता है; और पेड़ पर वह चढ़ नहीं सकता। उसने नत्थूराम की सहायता से ऊपर चढ़कर जो तीन-चार अमरूद खाए थे, उनके बाद उसे कोई अमरूद नसीब नहीं हुआ।”

मैं चुप हो गया। पुनीत भी चुप रहा। उसे शायद लग रहा था, इन्होंने घटना सुना दी और चुप हो गए।

एकाएक वह उत्साह से बोला—“मिल गया, मिल गया मेरे सवाल का जवाब!”

मैं मुसकराता रहा और उसने उठकर जाने की आज्ञा माँगी।



सवेरे-सवेरे



सुबह-सुबह घूमने निकला कि देखा, जाते हुए एक बिहारी मजदूर ने खँखाकर ढेर सारा बलगम मेरे घर के आगे सड़क पर थूक दिया। मन धिन्ना गया। रोज ही तो देखता हूँ यह दृश्य। इसी लाइन में एक कच्चे मकान की दो कोठरियों और उसके खुले आँगन में बीस-पचीस बिहारी मजदूर रहते हैं। वे आते-जाते हमारे घरों के आगे थूकते-छिनकते रहते हैं। कोई-कोई तो मुँह में दातुन डाले थूकते-थाकते पास की दुकान तक आते हैं और कुछ लेकर उसी तरह चले जाते हैं। एकाध बार उन्हें टोका; किंतु जब और किसीको यह दृश्य बीभत्स नहीं लगता तो मैं ही क्यों रोज-रोज उनसे उलझूँ। दरअसल वे कोई गलत काम कर रहे हैं, यह अहसास उन्हें हो तब तो समझाने पर समझें। अपनी गंदगी से वे तो मेरी सुबह खराब करते ही हैं, मैं उनसे लड़-झगड़कर और खराब क्यों करूँ ?

आगे बढ़ा तो देखा, खाली प्लॉट के आगे सड़क पर फलों के छिलकों, जूठे दोनों और कीचड़ का ढेर लगा हुआ है। रात के अँधेरे में गंदगी जहाँ चाहो, फेंक दो। कई बार अपने कुछ मित्रों के साथ फलों और चाट-पकौड़ी की दुकानों पर गया। उन्हें समझाया कि गंदगी फेंकनी ही है तो दो कदम आगे बढ़कर प्लॉट में फेंको, सड़क पर क्यों फेंकते हो; किंतु कोई मानने को तैयार नहीं हुआ कि कूड़ा उसकी दुकान का है। दोष एक-दूसरे पर ठेलकर पल्ला झाड़ लेते रहे। हमारे घर के पास बदबू फैलती है तो फैले, उनका व्यवसाय तो चल रहा है न। एक दिन देर रात तक जागता रहा और जैसे ही दो छोटे-छोटे लड़के कूड़ा फेंकने आए, एक को पकड़ लिया और तीन-चार झापड़ पीट दिए—“साले, फिर दिखाई पड़ गए तो टाँग तोड़ दूँगा!”

दो-चार दिन कूड़ा अंदर गिरता रहा, फिर सड़क पर गिरने लगा। जिस तरह तमाम चीजों का विरोध करते-करते हम चुप हो जाते हैं और उन्हें बदलने के स्थान पर अपने को ही उनके अनुकूल बदलने लगते हैं, वैसे ही यहाँ भी हुआ। अब

कूड़ा देखकर चुपचाप निकल जाता हूँ, निकल गया। चलते-चलते लगा जैसे किसी ने मेरा पाँव बाँध लिया हो और मुँह के बल गिरने को ही था कि अपने को सँभाल लिया और सँभालते-सँभालते भी घुटने के बल गिर ही पड़ा। गनीमत हुई कि कोई टूट-फूट नहीं हुई। देखा तो प्लास्टिक की वर्तुलाकार रस्सी थी। दुकानदार लोग अपने-अपने सामानों के गट्ठर खोलकर इन रस्सियों को गोलाकार रूप में ही सड़क पर फेंक देते हैं; और अनेक लोग गिरते रहते हैं, उनके मुँह, हाथ, पाँव टूटते रहते हैं। सड़क तो जैसे दुकानदारों की बपौती है। उसे जितना चाहे, छेंक लेंगे; जहाँ का होगा उनका टुक खड़ा हो जाएगा। वांछित चीजें उनकी दुकानों के अंदर चली जाएँगी और अवांछित चीजें सड़क पर। सड़क पर खड़ा टुक जोर-जोर से हॉर्न देता रहेगा। किसे कौन समझाए! चोट खा-खाकर लोग गिरेंगे, उठेंगे, चल देंगे।

“अरे रे रे, यह क्या?” धूल का अंबार देखकर घबरा गया। किसी देवीजी ने ऊपर से अपने घर का कूड़ा सड़क पर फेंका था। संयोग था कि मैं कुछ दूर पर था, नहीं तो वह सीधे मेरे सिर पर ही गिरा होता।

मैंने गुस्से से ऊपर देखा। वह औरत बिना किसी चिंता और ग्लानि के छत पर खड़ी थी। सोचा, इसे डाँटूँ, लेकिन न जाने डाँटने का क्या अर्थ निकल जाए और झगड़ा करने के लिए कौन-कौन, कहाँ-कहाँ से निकल आए।

आगे बढ़ा ही था कि देखा, एक मोटा-सा आदमी केले के छिलके पर पाँव पड़ जाने से फिसलकर बुरी तरह गिर गया। उसे पहचाना। यह वही आदमी था, जिससे कल मेरी कहा-सुनी हो गई थी। कल शाम को यह अपने बेटे के साथ जा रहा था। उसे केले खिला रहा था। खिला-खिलाकर छिलके सड़क पर फेंक रहा था। मैंने टोका तो बोला—“जाइए साहब, नसीहत मत दीजिए, आपको क्यों मिर्च लग रही है?”

‘अरे, नसीहत की क्या बात है? कोई गिर जाएगा तो मुँह फूट जाएगा। टाँग टूट जाएगी।’

‘ठीक है, ठीक है।’ कहकर उसने फिर एक छिलका फेंका।

“क्यों साहब, केले के छिलके पर पाँव पड़ गया?” उसके पास जाकर मैंने पूछा। न जाने क्यों हरामी लोग केले खा-खाकर छिलके सड़क पर फेंक देते हैं; देखिए न, एक भले आदमी की क्या हालत हो गई?

मुझे देखकर वह मुझे पहचान गया और उसका रुआँसा चेहरा कुछ नाराजगी में बदल गया। वह उठ नहीं पा रहा था।

मैंने उठाने के लिए हाथ बढ़ाया तो तैश में बोला—“जाइए-जाइए, मैं उठ जाऊँगा।” तब तक कुछ और लोग भी आ गए थे। उसे मेरे जानवर की तरह

११२ ❖ सवेरे-सवेरे

उठाने लगे।

“देखिए, आसमान का थूका मुँह पर आता है।” कहकर मैं आगे बढ़ गया।

एक आदमी का गिरना दर्द दे जाता है; किंतु इस झगड़ालू मोटे के गिरने और उठ पाने के प्रयास में उसके असफल होने से मुझे हँसी आ रही थी, किंतु वहाँ हँसी दबाए हुए था। आगे बढ़ा तो दबी हुई हँसी फूट पड़ी। टहलने निकले हुए कुछ लोगों ने मुझे चौंककर देखा, फिर मुसकराए। शायद सोचा कि यह कोई पागल है। मेरी हँसी रुक-रुककर फूटती रही और मैं सोचता भी रहा कि कैसे-कैसे लोग हैं, जो अपनी गलतियों से भी नहीं सीखते!

फिर हँस रहा था कि डर से थरा उठा। चौदह-पंद्रह साल का एक लड़का बड़ी तेजी के साथ मोटर साइकिल चलाता पास से गुजर गया। मैं बाल-बाल बचा। इसका यही काम है। इसे कई बार डाँट चुका हूँ। यह कई लोगों को घायल भी कर चुका है। पेशकार बाप के पास घूस की कमाई के पैसे आ गए हैं। बेटा ऊँट-सा मुँह उठाए हुए इस गली, उस गली मोटर साइकिल तेजी से दौड़ाता रहता है। मोटर साइकिल का साइलेंसर निकाले हुए है, इसलिए यह भयानक शोर उगलती रहती है। कुछ कहो तो न सुनता है, न बोलता है, चुपचाप निकल जाता है। पकड़े जाने पर कहता है—“मैंने किया क्या? आपको धक्का तो नहीं लगा? जब कुछ हो तो कहिएगा।”

“अरे, जब धक्का लग जाएगा और किसीका अंग-भंग हो जाएगा या प्राण ही निकल जाएगा तो तू अंग लाकर देगा, प्राण डालेगा? तब तेरे वश में कुछ होगा?”

“जाइए-जाइए साहब, कुछ नहीं होगा।”

“होगा तो जरूर एक दिन। चाहे तू किसीकी जान लेगा या तू ही एक दिन उलट जाएगा।”

क्या किया जाए ऐसे आवारा लड़कों का, जो खुद तो कुछ समझते नहीं, कुछ कहने जाओ तो उनके घरवाले भी उन्हींके पक्ष से लड़ने लगते हैं। कहता है—“क्या किया है मैंने?” अरे, सवेरे-सवेरे इतना शोर और धुआँ फेंकता हुआ उत्पात मचाए हुए है और कुछ ताजगी पाने के लिए प्रातः भ्रमण पर निकले लोगों को दहला रहा है; इसने कुछ किया ही नहीं। दरअसल सारी समस्या तो यही है कि लोग समझते नहीं कि वे क्या कर रहे हैं।

आगे बढ़ा ही था कि पीछे से जोर-जोर से किसी बच्चे के रोने की आवाज आई—‘केहाँआँ...आँ...केहाँआँ...आँ...’ जब तक सोचूँ कि यह रोने की

आवाज कहाँ से आ रही है, तब तक एक कार फराँटे से बगल से मुझे छूती हुई निकल गई। ज्ञात हुआ, उसीका हॉर्न है जो रोते बच्चे की तरह बज रहा है। बड़ी कोफ्त हुई। इस उल्लू के पट्टे को हॉर्न में भरने के लिए बच्चे के रोने की ही आवाज मिली। इसे पता ही नहीं कि बच्चे के रोने का क्या अर्थ होता है! उसमें मनुष्य के दर्द को झकझोर देने की कितनी गहरी क्षमता होती है। ये लड़के तो गहरे मानवीय संदर्भों और संवेदनाओं को अपने हलके-फुलके मनोरंजन का साधन बनाते चले जा रहे हैं। अनाप-शनाप पैसा आता जा रहा है, संवेदना और सौंदर्यबोध मरता जा रहा है।

आगे जाकर कार रुक गई थी। देखा तो वह लड़का एक रिक्शेवाले को गाली दे रहा था। रिक्शेवाला घिघिया रहा था—“आपने ही पीछे से मेरे रिक्शे को धक्का मारा है और दोष मुझे दे रहे हैं। मेरा रिक्शा तो गया ही होता, इसपर बैठी सवारियाँ भी खतम हो गई होतीं।”

“चुप रह, साला! अनाप-शनाप ढंग से रिक्शा चलाता है और उलटे जवान लड़ाता है।”

“बाबू, गाली मत दीजिए।”

फिर क्या था, वह लड़का कार से नीचे उतर आया और लगा जैसे रिक्शेवाले को पिटाई शुरू कर देगा।

“खबरदार जो हाथ लगाया!” रिक्शे पर बैठे दंपती में से पुरुष बोल उठा। “खुद गलती करते हो और दोष मढ़ते हो दूसरे के सिर। अब तक तो हमारी जान ले ली होती।”

मैं भी पहुँच गया था और मुझसे भी नहीं रहा गया। गुस्से में बोला—“गाड़ी है तो समझते हो सड़क खरीद ली है। आराम से नहीं चला सकते! बच्चे के रोने की आवाज सड़क पर छोटते चले जा रहे हो।”

उसने मुझे गुस्से से देखा। तब तक और लोग भी इकट्ठा हो गए थे और सबने मिलकर उसे धिक्कारा तो वह चुपचाप गाड़ी में बैठकर चला गया।

मुझे प्रतिरोध का यह सामूहिक स्वर बहुत अच्छा लगा। काश, यह स्वर बना रहता तो खुलेआम इस प्रकार की नंगई करने का साहस नहीं होता अपराधियों में।

सोचा कि घर लौट चलूँ। यह प्रातः भ्रमण भी कोई भ्रमण है। बस घूमना होता है, घूमने निकल पड़ता हूँ। चुपचाप आ रहा था कि एक जबरदस्त बुलडॉग एकाएक भौंकता हुआ मेरे पास आ धमका। लगा कि वह मुझे फाड़ खाएगा। मैं तो गिरते-गिरते बचा। तब तक कुत्ते के मालिक कैप्टेन खुराना आ पहुँचे। आते

११४ ♦ सवेरे-सवेरे

ही कुत्ते को पकड़ लिया। हाँ, ये फौज के रिटायर्ड कैप्टन हैं। हम एक-दूसरे को जानते हैं। आते ही बोले—“अरे व्यास साहब, आप नाहक घबरा गए, यह काटता नहीं है।”

मैंने घूरकर उन्हें देखा। फिर गुस्से में बोला—“क्यों, काटने में कोई कसर थी क्या? और काटे या न काटे, भौंकता हुआ इतने खूँखार ढंग से झपटा था, यह क्या कम है? इससे किसीका हार्ट फेल हो सकता है, डरकर उसके गिरने से उसका अंग-भंग हो सकता है। आप इतने जाहिल कुत्ते को खुला छोड़कर घुमा रहे हैं, यह कहाँ की अक्लमंदी है?”

“ओ हो हो, मैंने कहा न कि यह काटता नहीं है। यह जाहिल नहीं है, बहुत ऊँची नस्ल का कुत्ता है; और कुत्ता है तो भौंकेगा ही। यह काट ले तो इसी डंडे से मेरा सिर फोड़ दीजिए।” उन्होंने अपने हाथ में पकड़े डंडे की ओर इशारा करते हुए कहा।

“आप भी बहुत ऊँची चीज हैं, खुराना साहब। जब यह काट ही लेगा, तब आपका सिर फोड़कर क्या करूँगा? और यह कुत्ता काटेगा नहीं, फाड़ खाएगा। उसके बाद तो मैं या कोई आपका सिर फोड़ने के लिए बचेगा ही नहीं।”

“अरे व्यास साहब, मैं अपने कुत्ते को जानता हूँ न। विश्वास रखिए।”

कहकर वे कुत्ते को पकड़े हुए मुड़ गए। मैंने जोर से कहा—“मुझे नहीं मालूम कि आप अपने कुत्ते को जानते हैं कि नहीं, या कुत्ता आपको जानता है कि नहीं; लेकिन इतना मालूम है कि आप दोनों ऊँची नस्ल के हैं और आप दोनों के लिए आदमी की कोई कीमत नहीं है। लेकिन यदि यह दुबारा मुझपर झपटा तो कीमत भी मालूम हो जाएगी।”

मैं घर के पास आया। अभी तक मेरा दिल धड़क रहा था। फिर एक मजदूर जाते-जाते मेरे घर के सामने खूँखारकर थूक गया। लेकिन इस बार उसका थूकना मुझे उतना नागवार नहीं लगा।



पटाखे



पत्नी दर्द से कराहीं तो मैंने पूछा—“नींद नहीं आ रही है?”

“तुम्हें आ रही है क्या?”

“मेरी बात और है। मैं नहीं सो पाऊँगा तो भी क्या! किंतु तुम्हें तो सवेरे से ही सिरदर्द पकड़े है। नहीं सो पाओगी तो दर्द बढ़ता जाएगा और कल.....”

तड़-तड़ तड़-तड़, तिड़-तिड़ तिड़-तिड़, भम्म....

“अरे इन आवारा लड़कों के मारे कोई सो पाएगा! ज्यों नींद लगती है, इन कमबख्तों के पटाखे बीभत्स ढंग से चीख पड़ते हैं।” दर्द के साथ पत्नी ने अपना क्रोध व्यक्त किया।

“अब किया भी क्या जाए? त्योहार का माहौल है। कोई किसीको क्या कहे?”

“अरे दीवाली तो बीत गई। इन बेहूदों को अब इतनी खुराफात करने की क्या आवश्यकता है?”

“सो तो है, पर किया क्या जाए? साढ़े बारह बज रहे हैं और इनको चिंता ही नहीं कि लोगों को सोना भी है, कोई बीमार भी हो सकता है, जो नींद के एक-एक क्षण के लिए छटपटा रहा होगा। छोटे-छोटे बच्चे सोए होंगे जो विस्फोट सुनकर चौंक-चौंक जाते होंगे और टूटी नींद लिये चीख-चिल्ला रहे होंगे।”

“उठकर एक बार इन्हें डाँटते क्यों नहीं हो?”

“सो तो मैं सोच रहा हूँ, लेकिन त्योहार के दिन किसीसे झगड़ा हो जाए तो? अरे, इतनी रात को जो पटाखे छोड़ रहे हैं, वे विचारशील घर के विचारशील लड़के तो नहीं होंगे।”

“अरे, न जाने व्यर्थ में बहाने के लिए इन्हें इतने पैसे कहाँ मिल जाते हैं!”

“अरे, कहाँ से मिल जाते हैं का क्या सवाल है! अरे, इनके पिताओं को जरा गौर से देखो न। कोई डाँड़ी मारनेवाला फूहड़ दुकानदार है, कोई बैठे-बिठाए दूसरों की संपत्ति का वारा-न्यारा करके लाखों कमानेवाला दलाल है, कोई

घूसखोरी से लदा-फँदा कर्मचारी या अफसर है, कोई आदमी के खून में से पैसा दुहनेवाला डॉक्टर है, कोई सार्वजनिक संपत्ति हड़पकर साँस-डकार न लेनेवाला नेता है, कोई शिक्षा और संस्कृति का व्यवसायी है, कोई-कोई.....”

भम्म.....बम फटा, मैं चौंक गया और शब्द जहाँ-के-तहाँ अटके रह गए।

“कोशिश करो सोने की। न हो तो कंपोज ले लो। शीशा भी बंद कर दे रहा हूँ। शोर का प्रहार कुछ तो कम होगा।” मैंने कहा।

“नहीं-नहीं, शीशा मत बंद करो, घुटन होगी; फिर सिर और भी भारी हो जाएगा। हाँ, कंपोज ले लेती हूँ।”

कंपोज लेकर श्रीमतीजी सो गई या सोने का अभिनय करने लगीं, ताकि मैं परेशान न होऊँ।

पटाखे छूटते रहे। उनके साथ लड़कों की खुशी-भरी चीख-चिल्लाहट भी चलती रही। नींद चिंदी-चिंदी होकर उड़ती रही। कल मैंने उनकी इन्हीं हरकतों से तंग आकर डाँटा था—“क्यों इतनी रात गए मेरे घर के सामने उत्पात मचा रहे हो?”

उनमें से एक बोला—“ऐ बुढ़े, यह सड़क तुम्हारी नहीं है, यह सबकी है। हम जो चाहें, करेंगे। त्योहार के दिन पटाखों के साथ खुशी नहीं मनाएँगे तो क्या मातम मनाएँगे! अभी तो हम जवान हैं।”

फिर सारे लड़के कोरस में गाने लगे—‘अभी तो हम जवान हैं, अभी तो हम जवान हैं।’

उन्हींमें से एक आवाज उछली—“मैं का करूँ राम, मुझे बुढ़ा मिल गया।” सभी लड़के खिलखिलाकर हँसने लगे और पटाखों की विषाक्त खिल-खिलाहट में उनकी खिलखिलाहट मिल गई; जैसे वे खुद पटाखे हो गए हों।

मैं आगे क्या कहता! इनसे लड़ सकता नहीं था। बेटे सुन लें तो मारपीट हो जाए। जब और कोई नहीं बोल रहा है तो मैं ही क्यों बोलूँ? किसीसे कहूँ भी तो वह हँसकर कहेगा—“अरे साहब, दीवाली का त्योहार है, बच्चे खुशियाँ मना रहे हैं तो मनाने दीजिए।” आखिर ये लोग भी तो उन्हींमें से हैं—कोई भाई है, कोई पिता है, कोई ताऊ है, कोई चाचा है। आखिर इन्होंने ही तो इन्हें पटाखा संस्कृति के लिए तैयार किया है और पैसे भी तो इन्हींके हैं।

इस बार अखबार में यह पढ़कर बहुत खुश था कि बड़े और लड़ीदार पटाखों पर प्रतिबंध लगाया जा रहा है और ग्यारह बजे के बाद कोई पटाखा नहीं छूटेगा। कहाँ हैं वे लोग, जिन्होंने अखबारों में यह प्रतिबंध लगाया था? या तो प्रतिबंध लगा नहीं या कोई देखनेवाला नहीं है कि प्रतिबंध पर अमल हो रहा है

या नहीं। मैंने सोचा, पुलिस को फोन करके कहूँ कि साढ़े बारह बजे रात को भी पटाखे फूट रहे हैं; किंतु यह सोचकर हँसी आ गई कि साढ़े ग्यारह बजे तो मैंने अपने सामनेवाली सड़क पर पुलिस को गश्त लगाते देखा था। उसे भी लगा होगा—जो चल रहा है चलने दो, कौन बर के छत्ते में हाथ डाले!

हमारा टी.वी. बहुत सुखदायिनी चीज है। वह अपनी सुंदर वाणी से आम आदमी को हमेशा सुख देता रहता है। आपके नगर में यदि महामारी फैली हुई है तो टी. वी. पर देखते हैं कि आपके नगर की सफाई हो रही है, कीट-नाशक दवाएँ छींटी जा रही हैं, धुआँ छोड़नेवाली गाड़ियाँ घूम रही हैं; और जब अपने मोहल्ले को देखते हैं तो पाते हैं कि उसी तरह कूड़े का अंबार लगा हुआ है, गंदी नालियाँ बजबजा रही हैं। मक्खियाँ और मच्छर भिनभिना रहे हैं, चारों ओर रोगी कराह रहे हैं।

इसी तरह टी.वी. पर कभी डेसूवाला आता है और बात-की-बात में आपकी सारी समस्याएँ हल कर जाता है। अब यह दूसरी बात है कि आप गलत बिल ठीक कराने के लिए महीनों डेसू ऑफिस का चक्कर काटते रहिए और वहाँ का छोटा-से-छोटा संबद्ध आदमी भी या तो मद में चूर मिलेगा या सीट पर मिलेगा ही नहीं। बहुत भारी गलत बिल अदा न करने पर कनेक्शन काट देने की धमकियाँ मिलती रहेंगी।

इसी तरह टी.वी. पर डॉक्टर, जज, अफसर, नेता, पुलिस अधिकारी और न जाने कौन-कौन आते रहेंगे और आपकी समस्या चुटकियों में हल करते रहेंगे; और आपको क्षण-भर को ऐसा लगता रहेगा कि अरे, आपने जिन लोगों को मुँह फुलाए और आम आदमी से बात न करने की जिद ठाने कुरसियों पर देखा है, वे तो टी.वी. पर हँसते भी हैं, आराम से बात भी करते हैं, लोगों से उनकी समस्याएँ भी पूछते हैं—तो टी.वी. पर पटाखों की समस्या भी हल हो जाती है। पटाखे नई पीढ़ी की संस्कृति बनते जा रहे हैं। जन्म पर पटाखे, वर्षगाँठ पर पटाखे, शादी-ब्याह पर पटाखे, दशहरे पर पटाखे, दीपावली पर पटाखे, होली पर पटाखे, खेलों में जीत पर पटाखे, पटाखे-पटाखे; विषैला धुआँ उठ रहा है, कान के परदे फट रहे हैं, मकानों-दुकानों में आग लग रही है, बच्चों के शरीर झुलस रहे हैं। थोड़े आनंद के लिए आसपास के लोगों का सुख-चैन हराम किया जा रहा है, बीमार व्यक्तियों की बेचैनी के भीतर खौलता हुआ शोर उड़ेलता जा रहा है, काम से थके जवानों और वृद्धों की नींद छिन्न-भिन्न कर दी जा रही है। कल उस व्यापारी-पुत्र को एक रुपए के लिए रिक्शेवाले से लड़ते हुए और उसे पीटते हुए देखा था, जो कल से ही लगातार पटाखे फोड़ रहा है और लगभग सात-आठ हजार के पटाखे

फोड़ चुका होगा। जिस देश में करोड़ों लोग भूखे सो जाते हों, वहाँ भोंड़े धनिकों को क्या अधिकार है कि वे लाखों की संपत्ति को विषाक्त धुआँ बनाकर गरीबों की सूनी आँखों और साँसों में उड़ेल दें? क्या सरकार को यह सब दिखाई नहीं पड़ता? क्या सरकार इस तरह की घिनौनी क्रीड़ा पर प्रतिबंध नहीं लगा सकती? और लगाती है तो क्या उसपर अमल नहीं कर सकती? यह कैसी विडंबना है?

और विडंबनाओं का अंत है क्या? पटाखों की तरह दिन-रात माइक दहाड़ते रहते हैं और हमारे कानों में अपनी आवाज उड़ेलते रहते हैं। हमारी नींद हराम हो जाती है; हम अपने ही घरों में संवाद नहीं कर पाते। हमारे संवादों के बीच ये दीवार बनकर खड़े हो जाते हैं। हम अपने ही कमरे में अपने लोगों से अजनबी बन जाते हैं। हमारी सोच उद्विग्न होकर छितरा-छितरा जाती है और हम हाथ में कलम लिये बैठे रह जाते हैं। मंदिर में माइक, मसजिद में माइक, गुरुद्वारे में माइक, जगराता में माइक, शादी में माइक, वर्षगाँठ में माइक, मुंडन में माइक, जन्म में माइक, मरण में माइक, दुकान पर माइक, मकान पर माइक, शहर में माइक, गाँव में माइक; माइक, माइक, माइक... और इसके भोंड़े आघात से छटपटाता जीवन का सुख-चैन, आम आदमी का सुकून। क्या यह इतनी बड़ी समस्या है कि सरकार इससे निबट नहीं सकती? क्या वह माइक के असमय और अनुचित उपयोग पर प्रतिबंध लगाकर बेहद ध्वनि-प्रदूषण फैलानेवालों को दंडित नहीं कर सकती? यह समस्या रोजी-रोटी हल करने जैसी बहुत बड़ी समस्या तो नहीं है, जिसे आसानी से हल न किया जा सके? बस, सरकार को तो एक टी.वी. मिला हुआ है, उसपर लोगों को समझाने जैसे अंदाज में कुछ कार्यक्रम संपन्न कर दिए जाते हैं और समझा जाता है कि कर्तव्य पूरा हो गया। कभी टी.वी. पर सड़क पर चलने का तरीका सिखाया जाता है और मान लिया जाता है कि लोगों ने सीख लिया। जनसंख्या नियंत्रित करने के लिए टी.वी. पर कंडोम बाँटा जाता है और कुछ छोटे-मोटे कार्यक्रम दिखा दिए जाते हैं और मान लिया जाता है कि जनसंख्या नियंत्रित हो गई। शराब की अनंत दुकानें खुलवाकर सरकार टी.वी. पर उसके कुप्रभाव का दृश्य दिखाती है और मान लेती है, शराबबंदी हो गई।

वैसे तो टी.वी. बहुत प्रभावशाली माध्यम है, और शिकायत की जाती है कि उसके द्वारा देश में, समाज में एक बेहद कुप्रभावकारी संस्कृति फैल रही है, हमारे बच्चे रंगीन जहर पी रहे हैं और भीतर-भीतर विकलांग होते जा रहे हैं; किंतु यह भी सच है (जिसे हम भी जानते हैं, आप भी जानते हैं और सरकार तो जानती ही है) कि टी.वी. पर जो कुछ उन्मादकारी, उत्तेजक और मोहक दिखाया जाता है वह तो मन की गति से फैलता है और दर्शकों के भीतर समाकर उन्हें

बदलने लगता है, उनके स्वस्थ मूल्यों और छवियों को विकृत करने लगता है; किंतु जो गंभीर और कल्याणकारी चीजें दिखाई जाती हैं, उन्हें अधिकांश दर्शक या तो देखते नहीं या देखकर अनदेखा कर देते हैं। आप सिखाते रहिए सड़क पर चलने का तरीका, दुर्घटनाएँ बढ़ती जा रही हैं; बाँटते रहिए कंडोम, जनसंख्या आपको चिढ़ाती हुई अपनी रफ्तार में है; देते रहिए ध्वनि और दृश्य-प्रदूषणों को नियंत्रित करनेवाले प्रोग्राम, पटाखे और माइक उसी उन्माद से चीखते रहेंगे; वाहन बेतहाशा धूल और धुआँ उड़ाते भागते रहेंगे; नव धनाद्यों के बिगड़ैल लड़के साइलेंसर निकालकर अपनी चीखती मोटर साइकिलें बेतहाशा भागते रहेंगे; उनकी उड़ती कारों में से तरह-तरह के बेहूदे हॉर्न बजते रहेंगे.... और न जाने क्या-क्या होता रहेगा।

और इनका इलाज केवल टी.वी. नहीं है, इलाज है कानून और सख्ती से उसका पालन। एक ओर विद्यालय के स्तर से ही बच्चों में नागरिक भावना का संस्कार भरने की आवश्यकता है, दूसरी ओर कानून और उसके व्यवहार को सख्त करने की जरूरत है। मगर यह सब कौन करेगा? सरकार तो स्वयं ही अनियंत्रित और कानून को ठेंगा दिखानेवाले लोगों का गिरोह बनती जा रही है। आम आदमी असहाय-सा, अरक्षित-सा उसकी ओर देख रहा है, देखे जा रहा है और सत्ता, गुंडा-शक्ति और पैसा उसके साथ मनमाना खेल खेल रहे हैं।

टन....टन....टन....टन....टन....

मैं चौंका और पत्नी घबराकर उठ बैठी—“क्या हुआ, क्या हुआ?”

“कुछ नहीं, वही जो पटाखों के साथ होता है। कहीं आग लगी है, फायर ब्रिगेड की गाड़ी जा रही है; रात को चीरती और थराती हुई।”

“हे राम, रक्षा करना!” कहकर पत्नी ने अपना दुखता हुआ सिर तकिये से दबा लिया।

अभी भी पटाखे यहाँ-वहाँ छूट रहे थे।



संवाद



अपने बारे में उसकी विपरीत और खरी टिप्पणी सुनकर वे कुछ देर चुप रहे, फिर बोले—“सुनिए, आप इस शहर में अभी नए-नए आए हैं, शायद मुझे नहीं जानते।”

वह मुसकराया और मुसकराता रहा।

“आप मुझे जानते होते तो मेरे इतना कहने पर मुसकराते नहीं।”

वह खिलखिलाकर हँसने लगा। फिर बोला—“आप जैसे यशस्वी अफसर व्यक्ति को नहीं जानूँगा! आपके बारे में प्रसिद्ध है कि आप जिसे चाहें, आसमान पर चढ़ा दें; जिसे चाहें, जमीन में गाड़ दें और जिसे चाहें, गुमनामी के सागर में डुबो दें। जिसे चाहें, पुरस्कार दिला दें; जिसे चाहें, देश-विदेश की सैर करा दें; जिसे चाहें, इस या उस कमेटी में रखवा दें।”

“आप सही जानते हैं। मगर सचमुच जानते होते तो यों हँसते नहीं।”

“मैं सचमुच जानता हूँ, तभी हँस रहा हूँ।”

“लगता है, आप अपने दुर्भाग्य पर हँस रहे हैं।”

“हँस तो दुर्भाग्य पर ही रहा हूँ, किंतु अपने नहीं।”

“तब क्या मेरे?”

“हो सकता है। बंधु, मैं जानता हूँ, आपके भाग्य का सितारा चमक रहा है और दूसरों का भाग्य बनाते-बिगाड़ते रहते हैं; किंतु उनका बनाते-बिगाड़ते हैं, जो महत्वाकांक्षाओं से लदे-फँदे होते हैं। वे ही डरते हैं और डरकर उनकी आरती उतारते रहते हैं, जिन्हें वे अपनी महत्वाकांक्षाओं का पोषक समझते हैं। वे लोग आपसे डरते हैं, आप अपनी महत्वाकांक्षाओं के पोषक आकाओं से डरते हैं और वे आका, अपने आकाओं से डरते हैं। महत्वाकांक्षाओं के जंगल में एक-दूसरे से डरने और खुशामद करने की शृंखला बनी होती है।”

उसने देखा, वे उसे इस भाव से देख रहे थे कि ‘देख लूँगा। तुम्हें कला जगत् से जलावतन नहीं किया तो मेरा नाम कीर्तिभानु नहीं’।

“कोई मेरा क्या बिगाड़ लेगा, जब मुझे वह बनने की इच्छा ही नहीं है, जो खुद नहीं बन सकता। उसे पाने की इच्छा ही नहीं है, जिसे स्वयं नहीं पा सकता। मेरे पास खोने को कुछ है ही नहीं; क्योंकि जो है, वह बहुत थोड़ा है और वह निहायत अपना है। विदेश तो छोड़िए, देश में ही ठेलकर भेजने पर कहीं जाता हूँ। जितनी कमेटियों में अपने आप बुला लिया जाता हूँ, वहाँ जाने पर लगता है, अपना समय और सुख बरबाद कर रहा हूँ और कला जगत् में जो पाया है, वह आप जैसे महंतों से नहीं, अपने प्रशंसकों से पाया है। वह गुनगुनाने लगा—

एक ठंडी चमक दाता की लिये एंठे हुए,
देगे क्या, खुद ही भिखारी की बिछी चादर हैं आप।

“देख लूँगा।” कहकर वे आगे बढ़ने लगे तो उसने कहा—“कीर्तिभानुजी, कोंहड़े और गाजर का एक संवाद सुनते जाइए, शायद आपके काम आ जाए।”

“आप ही कहिए और आप ही सुनिए।” कहकर वे चले गए, किंतु एक दूसरे सज्जन विषमजी हँसते हुए प्रकट हो गए। बोले—

“अरे, किसे सुना रहे हैं संवाद! अरे कीर्तिभानुजी तो केवल सुनाते हैं, सुनते नहीं। आपने देखा होगा कि सभाओं में सबको क्या-क्या सुना डालते हैं और जब सुनने की बारी होती है तो उठकर चल देते हैं।”

“हाँ, सो तो है।”

“तो मुझे सुनाइए न वह संवाद!”

“तो सुनिए।

“‘ए तर क।’ (ए नीचेवाले।)

“‘का ऊपर क।’ (क्या ऊपरवाले।)

“‘गाँव में गज-बज बा।’ (गाँव में गड़बड़ है।)

“‘तू डेरा, तुहरे ओरमल बा।’ (तू डर, तेरा फल लटका हुआ है।)”

“तो बंधु, जरा इसका खुलासा कीजिए।”

“यह संवाद मैंने बचपन में सुना था। तब यह एक मनोरंजक छोटा-सा संवाद लगा था। जब बड़ा हुआ और उन प्रसंगों से गुजरा, जिनमें से यह संवाद फूटा होगा तो उसके मर्म को समझने लगा।”

“क्या मर्म समझा आपने?”

“वह यह कि गाजर को डर नहीं है। उसका आकार छोटा है, किंतु वह जमीन से गहरी जुड़ी है। किंतु कोंहड़े को तो देखो, पतली लतरों पर बड़े-बड़े फल लटके हुए हैं और लटके भी कहाँ हैं—वे तो छतों पर या दूसरे आधारों पर सवार हैं। ये आधार न मिलें तो इसके बड़े-बड़े फल लतरों सहित धरती पर आ गिरें और सड़ जाएँ। तो,

डर तो कोंहड़े को होना चाहिए न कि यदि दूसरों का आधार न मिले तो उसके बड़े-बड़े फल कहाँ टिकेंगे? अपनी मजबूत जड़ पर खड़ी छोटी-सी गाजर को क्या डर है? यदि गाँव में गड़बड़ है तो लोगों की निगाहें सहज भाव से कोंहड़े की ओर ही जाएँगी न! और देखते-देखते उजड़ जाएगा।”

विषम ठठाकर हँसा और बोला—“बहुत अच्छा संवाद है, बंधु। यह कीर्तिभनवा सचमुच कोंहड़ा ही है—अपनी महत्वाकांक्षाओं का बोझ दूसरों के ऊपर डाले हुए। मैं तो इसीलिए इसे खतियाता ही नहीं। लोगों ने खुशामद कर-करके इसकी आदत बिगाड़ दी है।”

“सही है, विषमजी।” कहकर वह मुसकराया। विषम को शायद उसकी मुसकान में व्यंग्य का आभास लगा। पूछा—“क्या मैं गलत कह रहा हूँ?”

“नहीं-नहीं, आप ठीक कह रहे हैं। कुछ तो उनके क्रीत अनुचर हैं ही, जो दिन-रात उनकी आरती उतारते रहते हैं। दूसरे प्रकार के लोग वे हैं, जो उनकी आलोचना तो करते रहते हैं, किंतु भीतर-भीतर यह इच्छा पाले रहते हैं कि वे इनके बारे में कुछ कह और लिख देते तो वे इतिहास में दाखिल हो जाते। इसलिए कभी-कभार उनसे वे लोग अपनी कृतियों पर होनेवाली गोष्ठियों की अध्यक्षता कराते हैं या मुख्य अतिथि बनाते हैं। और जब वे भरी सभा में उस कृति की उपेक्षा कर देते हैं या प्रतिकूल टिप्पणी देते हैं तो उनका मोहभंग हो जाता है और कहते फिरते हैं—‘बेईमान है, नासमझ है, पार्टीबाज है, समकालीन कला से कट गया है।’ क्यों विषमजी, मैं ठीक कह रहा हूँ न?”

“जी हाँ, जी हाँ, आप गलत कब कहते हैं!” कहते हुए वे सरक गए और उसे दो महीना पूर्व विषम की पुस्तक पर आयोजित वह गोष्ठी याद आ गई, जिसकी अध्यक्षता कीर्तिभानुजी से कराई गई थी। जब कीर्तिभानु ने पुस्तक की धज्जियाँ उड़ा दीं तो विषम कहता फिरा—‘यह कीर्तिभानु है क्या? अपने को बड़ा तीसमारखाँ समझता है, किंतु उसे रचना की समझ है कितनी? उसके कहे का मूल्य ही क्या है?’

जब उसने विषम से कई बार यह टिप्पणी सुनी तो एक दिन टोक दिया—‘बंधु, जब वह कुछ है ही नहीं तो उसे अध्यक्ष क्यों बनाया, और यदि उसके कहे का कोई मूल्य ही नहीं है तो दो महीने से घाव सहलाते क्यों घूम रहे हैं?’

‘कौन कमबख्त घाव सहलाता घूम रहा है? अरे, मैं तो यों ही आनंद लेने के लिए उसकी मूर्खता और बेईमानी की चर्चा छेड़ देता हूँ।’

वह मुसकराया तो विषमजी वहाँ से सरक गए थे, जैसे आज। लगता है, उसकी मुसकान में कुछ है जो बड़े लोगों को चुभ जाता है। काश, महत्वाकांक्षाओं के जंगल की तरह इस महानगर में उसकी मुसकान बची रह पाती। □

रमेश असमंजस में उठकर चला गया। माधव बहुत देर तक करवटें बदलता रहा। उदासी की मनहूस आँखें उसे घूरती रहीं। वह चुपके से कमरे के बाहर हो गया। एक अमलतास की छाया में अपने को डाल दिया। अमलतास पीले फूलों से लदा था। सामने यूकेलिप्टस की सुकुमार रुपहली पत्तियों के पार उगता हुआ चाँद झलमला रहा था।

चाँद और ऊपर चढ़ आया था, रात और ठंडी हो गई थी, पत्तों को छेड़ती हुई हवा लहर गई। माधव के जन्म-जन्मांतर की प्यास चाँदनी में निखर रही थी। वह सोच रहा था, प्यार के बिना जीवन रूखा होने के सिवाय और क्या हो सकता है! किंतु प्यार की एक बूँद भी तो उसके जीवन में नहीं बरसी, कितना अभागा है वह कि उसे क्षण-भर को भी माँ-बाप के स्नेह की छाया नहीं मिली। पैदा होने

१२४ ❖ प्यास

के बाद ही वे चल जो बसे। सारा बचपन पराएपन के जंगल में भटक-भटककर बीता।

वह धीरे से रो पड़ा—किसीने तो स्नेह से कहा होता, 'बेटा!' और वह 'माँ, माँ' कहता हुआ उसकी गोद में कूद पड़ता। कोई भी तो पूछता—'बेटा, तुझे बाजार से क्या चाहिए?' और वह बाप की उँगली पकड़कर मिठाइयों की लंबी फेहरिस्त गिना देता।

सुनसान रात में किसीने उसके आँसू नहीं देखे। धीरे से उसने अपना रूमाल निकालकर आँसू पोंछ लिये। बचपन के सुनसान दिनों के 'भाई' और 'भैया' उसे याद हो आए। उसने सोचा, वे न याद आते तो अच्छा था। लेकिन वे याद क्यों न आते? उसने चाँदनी के स्वच्छ प्रकाश में अपनी कलाई पर चाकू के लंबे गहरे घाव का निशान देखा। भाई की काली तसवीर उस रेखा में से उभरकर अट्टहास कर उठी और माधव ने आँखें मूँद लीं।

आँखें मूँदे-मूँदे वह देख रहा था—गाँव की वे गलियाँ, खेतों की पगडंडियाँ, जिनपर उसके बेसहारा पाँव डगमगाते रहे। भूख लग आई है, खेत में से मटर की फलियाँ तोड़ लेता है। 'चट-चट-चट' पीछे से थप्पड़ बरस उठते हैं—'चोर साला!' उसके गाल लाल हो उठते हैं, आँखों में आँसू भर उठते हैं। किंतु कौन है उन आँसुओं को पोंछनेवाला! वे तो अपने आप ही सूख जाते हैं।



माधव ने आँखें खोलकर ऊपर उठाई और तब देखता है कि वह सयाना हो चुका है। ज्यों-ज्यों प्राइमरी स्कूल पास कर लेता है, उसे अपने ऊपर बड़ा गर्व होता है कि स्नेह के अभाव में भी उसकी जिंदगी में आगे बढ़ने की काफी शक्ति थी। किंतु भूख-प्यास और कागज-कलम तथा फीस के अभावों की गहरी खाइयाँ सामने थीं, तो वह क्या करे?

कुछ दिनों बाद उसे मौसी का स्नेह मिला और उस स्नेह की छाया में उसने मैट्रिक पास किया; लेकिन मौसा का उपेक्षापूर्ण व्यवहार उसे बरदाश्त नहीं हुआ, सो वह वहाँ से चल निकला। कहाँ? उसे स्वयं ज्ञात नहीं था। संसार के पराएपन से ऊबकर भावुक बालक हिमालय की गुफाओं, साधुओं के अखाड़ों, गंगा की पवित्र कल-कल धाराओं और मंत्र-गुंजित तीर्थस्थानों में भटकता फिरा। कहीं भी मन नहीं लगा; सब फीके थे। हृदय की सारी तरलता सुखाकर उसे पत्थर-सा कठोर बनाने का उपदेश देनेवाले और उन सभी तरलताओं की पुंजीभूत धारा में छिपकर नहानेवाले पुण्यधाम कितने भयानक थे! ओह!

और तब उसकी चढ़ती जवानी के दिन थे। तब उसे यह चाँद कितना प्यारा

लगने लगा था! चैत की अलसाई रातों में वह चैता की कड़ियाँ सुनता, तो लगता कि उसके अंतर में कोई पुकार रहा है।

और वह आसमान में एक उड़ती हुई चिड़िया देखने लगा। उसे पता नहीं चला कि उसका मन फिर उन घटनाओं पर मँडराकर गिर पड़ा।

वे थे जवानी के दिन, एक भूखे सर्वहारा की जवानी के दिन। कुछ तरलता चाहते हुए मन का कोई उत्तर नहीं था और वह तरलता की प्यास धीरे-धीरे जैसे पत्थरों में दबने लगी वैसे ही उगने लगी पढ़ाई की नई अभिलाषा। बेसहारे का सहारा शिक्षा ही तो है, यह निश्चय दृढ़ हुआ।

माधव का मन उद्विग्न हो उठा, क्योंकि उसके मन में अनेक कुत्सित आकृतियाँ और घटनाएँ कौंध गई—जायदाद के लिए भाई और भाभी के अत्याचार, फूँका-तापी, पूरे गाँव का विरोध और कई महीने की जेल-यातना। उसका मन काँप उठा; लेकिन उसे गर्व हुआ कि बेसहारेपन ने ठोक-पीटकर उसकी हड्डियों को फौलाद की तरह बना दिया है और वह कहीं पर अन्याय के सामने झुका नहीं। अपनी सारी जायदाद बेचकर उसने विद्या देवी के चरणों पर चढ़ा दी।

यूनिवर्सिटी की चकाचौंध, हजारों लड़के-लड़कियों की चहल-पहल; लेकिन स्नेह के इस भूखे यात्री को यहाँ भी किसीने स्नेह नहीं दिया। जब वह किसी दोस्तनुमा छात्र से कहता कि 'ठहरो, मैं भी तुम्हारे साथ घूमने चलता हूँ' तो वह छात्र ऊबने के डर से दूसरे रास्ते से आँख बचाकर निकल जाता। अध्ययन से ऊबे हुए लड़के जरूर उसके यहाँ जुट आते, केवल अपना मनोरंजन करने के लिए; और वह खीज-खीजकर उन्हें गालियाँ देता।

वह सोच रहा था कि वह शायद चिड़चिड़ा हो गया। इसीलिए वह दोस्तों का स्नेह नहीं पा सका। लेकिन इतनी यातनाओं के पागल थपेड़ों में वह पागल क्यों नहीं हो गया, उसे इसीका आश्चर्य हो रहा था।

उसे अपने नजदीकी दोस्त भी याद आए, जिनकी दोस्ती का हिसाब बैंक के रुपयों का हिसाब साफ होते ही साफ हो चुका था। उसकी आँखें फिर भर आईं। माधव, दुनिया ने तुझे क्या समझ रखा है?

हॉस्टल के लड़के कहते—“माधव, तू इतना बूढ़ा हो गया, शादी क्यों नहीं कर लेता?” और वह प्रश्न टालने की कोशिश करता। लेकिन वह जानता था कि प्रश्न टला नहीं है, वरन् उसकी धड़कनों से टकरा रहा है। उसने याद किया कि रंगीन तितलियों से भरी सड़क पर जब मनचले युवक सीटियाँ बजाते, छाती पर हाथ रखकर आहें भरते, आवाजें कसते तब वह भरे-भरे डगमगाते पैरों से सड़क नापता हुआ सोचा करता—बैंक में इतने रुपए और रह गए हैं और अभी इतने साल

१२६ ❖ प्यास

का कोर्स और पड़ा हुआ है। उसके दिमाग में फेल हो जाने की आशंका कौंध जाती और वह मन-ही-मन बड़बड़ा उठता—‘तब क्या होगा भगवान्!’ हॉस्टल लौटते-लौटते माथा भारी हो उठता।

इन्हीं परेशानियों में उसके मस्तिष्क की हरियाली सूख गई और वह बी.ए. में फेल हो गया। उसके जीवन में पुरानी परेशानियों का नया दौर शुरू हुआ। उसे याद हो आए वे दिन, जब वह पाँच-पाँच दिन तक केवल पानी पीकर गाँववालों से लड़ता रहा और बी.ए. की तैयारी करता रहा। इस बीच वह अपने दिली दोस्त रमेश के यहाँ आता, तो रमेश पूछ लेता—“क्यों यार, शादी क्यों नहीं कर लेता?”

और उसका झल्लाहट भरा उत्तर होता—“अरे यार, तुम अंधे हो गए हो! अब मेरी शादी चिता पर ही होगी। देखते नहीं, फाकेमस्ती से मेरी जिंदगी टूट रही है।” और फिर वह अंतर की पीड़ा को दबाकर एक ठंडी-सी साँस खींच लेता।

लेकिन जब उसने चौथे प्रयास में बी.ए. पास कर ही लिया, तब उसकी जिंदगी में जैसे एक नया मोड़ आया। अब वह हाई स्कूल में मास्टर हो गया है, उसे अब उपवास नहीं करने पड़ते। उसने मकान की मरम्मत करा ली है। लेकिन उसका मन अब कुछ खोजता है, आज युग-युग की उपेक्षित कोई चीज उसकी रगों में ठाठें मार रही है।

लेकिन देखता है कि अब वह चालीस का है, बाल पकने लगे हैं, देह टूटी हुई छान की तरह पसर गई है। उभरी हुई नसें, बढ़ती हुई झुर्रियाँ जैसे उसकी प्यास को मुँह चिढ़ा रही हैं। उसका मन एक निराशा से कराह उठता है—‘मेरे टूटते हुए जीवन को कोई सँभाल पाता’।



आम के बौरों की एक उत्तेजक गंध झूम गई। उसका ध्यान भंग हुआ तो देखा, चाँद बीच आसमान में आ गया है। वह उठ पड़ा और कमरे में जाकर सो रहा।

सुबह-सुबह रमेश उठा तो उसने देखा कि माधव की पलकें भारी हैं, आँखों में खुमारी लदी है। उसने अपना मजाक दोहरा दिया।

माधव अबकी झिझका नहीं, झुँझलाया नहीं, गंभीर गमगीन आवाज में बोला—“तुम्हारी निगाह में कोई लड़की हो तो.....”

“ऐं.....” रमेश चौंका।

तब तक माधव वहाँ से उठ चुका था और दौड़कर कुछ दूर खेलते हुए रमेश के बच्चे को जोर से छाती में भर लिया। □

अनर्गल



“तू उचक्का!”

“तेरा बाप उचक्का!”

“तेरा खानदान उचक्का!”

“तेरी सात पुश्त उचक्की!”

कहते-कहते गाँव के दो उचक्के कल्लू और लल्लू आपस में उलझ पड़े। मैं अपने दरवाजे पर बैठा-बैठा यह देख रहा था। कोई पूछ सकता है कि—मैं इन्हें छुड़ा क्यों नहीं रहा था? इन्हें क्यों छुड़ाता? ये दोनों गाँव के बड़े पुराने लोग, मैं नवयुवक। इनसे कुछ कहता तो कहते—‘अरे चल-चल, कल का छोकरा हमें समझाने आया है।’ दरअसल पड़े-लिखे लोगों को तो वे सबकुछ खतियाते ही नहीं थे; और यदि कोई गंभीर झगड़ा हो तो चिंता भी हो, यह तो दो उचक्कों की कहा-सुनी थी, जो प्रायः होती ही रहती थी। अतः मैं मजा ले रहा था और मुँह में रूमाल ठूँसकर अपनी हँसी दबाए हुए था।

कोई पूछ सकता है कि इस झगड़े का कारण क्या था? इनके लिए कारण कुछ भी हो सकता था। मेरे घर के पास पीपल का एक पेड़ है, उसके चबूतरे पर प्रायः लोग जमा होते थे। उनमें कल्लू और लल्लू तो होते ही थे। कल्लू और लल्लू में से कोई भी कुछ कहता तो दूसरा प्रतिवाद करता, क्योंकि दोनों ही अपने को सर्वाधिक जानकार और बुद्धिमान साबित करने की कोशिश में लगे होते और लोगों के लिए मनोरंजन के पात्र सिद्ध होते।

आज हुआ यों कि कल्लू ने शहर से लौटते ही कहा—“लल्लू भाई, तुमने सुना कि हिटलर अभी जी रहा है और दुनिया को परास्त करने के लिए हिमालय की गुफा में फौज इकट्ठी कर रहा है।”

लल्लू ने मुँह बनाकर कहा—“अरे, तुम झूठे ही पुँवाया करते हो। हिटलर तो कब का मर चुका!”

कल्लू ने डाँटकर कहा—“अरे, कुछ जानते भी हो कि झूठे ही बात काटते रहते हो।”

“तुमसे लाख गुना ज्यादा जानता हूँ। तुम सड़क पर सुनी-सुनाई बात करते हो और मैं रेडियो सुनता रहता हूँ।”

“रेडियो सुनते हो? कहाँ है रेडियो?”

“अरे मेरे यहाँ रेडियो है, तुम्हें नहीं मालूम?”

“कहाँ है रेडियो? तुम्हारी घरिया में क्या?”

“अरे, मेरे बेटे वकील साहब के पास है रेडियो। क्या यहाँ लाऊँ, तुम्हारे जैसे गँवारों को तोड़ने के लिए! और तुम मेरे बंगले को घारी (वह छप्पर, जहाँ पशु बाँधे जाते हैं) कहते हो। कभी देखी है ऐसी कोठी? इस जवार में है किसीके पास ऐसा बंगला?”

“क्यों नहीं, क्यों नहीं, लल्लू महाराज! अरे, तुम अपने टुटहे मकान को कोठी कहते हो। हर एक साल भहरा-भहराकर गिरता है और हर साल उसमें पैबंद लगाते रहते हो। अरे, तुम्हारी इस कोठी से अच्छी तो मेरी घारी है। मेरा बेटा कमा रहा है।”

“अरे, कमा रहा है तो क्या हुआ, है तो चपरासी न! मेरा बेटा साहब है। मेरी बराबरी तुम क्या करोगे! अरे सुबह-सुबह छींटा में रुपए लेकर बैठता हूँ और सबको एक-एक मुट्ठी बाँटता हूँ। इस गाँव में है कोई, जिसे मैंने रुपए न दिए हों?”

“अरे, क्यों झूठी शेखी बघार रहे हो, लल्लू मियाँ! कभी मुझे रुपया दिया है?”

“हे देखो! अरे, तुम्हारी माँ मेरे दस रुपए खाकर मर गई। अगर बहुत बड़बड़ करोगे तो कल कोर्ट में दावा कर दूँगा।”

“अरे लल्लू, तुम्हारे जैसा लबार तो मैंने देखा नहीं। अरे, मेरी बराबरी तुम क्या करोगे! मैं तुम्हें खरीद सकता हूँ। है मेरी जैसी चौड़ी सहन तुम्हारे मकान के सामने?”

“हे कल्लू, तुम्हें पता नहीं है क्या कि ई सहनिया मेरे बाप ने तुम्हारे बाप को दान में दी थी। अरे, मैंने अपने बेटे को खूब खर्चा-वर्चा देकर विश्वविद्यालय में पढ़ाया, जहाँ राजा-महाराजा के लड़के पढ़ते हैं, और तुम बाप-बेटे चोरी-चिकारी करते रह गए। हमारे खलिहान में दूसरों के आठ-आठ बैल डाँठ खाते रहते हैं, तुममें है इतनी हिम्मत?”

“क्यों नहीं, क्यों नहीं! नाँद पर तुम्हारे बैल चारे बिना मर जाते हैं और खलिहान में दूसरों के बैलों को डाँठ खिला रहे हो।”

“है तुममें हिम्मत हर साल अपने बैल मुवाने की? अरे, चार बैल तो मैंने

अपनी बेटी महरनिया के विवाह में दे दिए थे। तुमने भी कभी किसीको बैल दिया है ? कभी बारातियों के स्वागत में मेरे जितना खर्च किया है ?”

कल्लू हँसा और फिर बोला—“क्या कहने तुम्हारे झूठ के ! अरे, मैंने अपनी बेटी की शादी में बारातियों को केसर का जलपान कराया था। मिठाई-पूड़ी खाते-खाते बारातियों की हालत खराब हो गई और तुम्हारी बेटी की शादी में लाठी और गारी खाते-खाते बाराती अघा गए !”

लल्लू गुस्से में आ गया और बोला—“अच्छा, तुम बहुत अधिक शेखी बघार रहे हो तो धोती नाप लो कि किसकी चौड़ी है !”

धोती नापी गई। लल्लू की धोती चौड़ी निकली और उसने डपटकर कहा—“तब ?”

“तब क्या ! अरे, धोती चौड़ी होने से क्या होता है ! और तुम धोती चौड़ी इसलिए पहनते हो कि तुम्हारा पाछा भारी है। अरे, मेरे यहाँ चलकर देखो—एक-से-एक रेशमी कपड़े दिखाई पड़ेंगे। रेशमी कपड़े कभी तुम्हें मवस्सर हुए हैं ?”

लल्लू ने भभककर कहा—“देख कल्लू, तू उचक्काई मत कर, कहे दे रहा हूँ !”

कल्लू ने आगे बढ़कर कहा—“तू उचक्का है !”

लल्लू थोड़ा आगे बढ़ आया—“तेरा बाप उचक्का !”

कल्लू थोड़ा और आगे बढ़कर बोला—“तेरा खानदान उचक्का !”

अब देखा कि कल्लू और लल्लू एक-दूसरे के ऊपर पलटा मार रहे हैं और कुछ लड़के हो-हो करके हँस रहे हैं। तब तक देखा कि कल्लू का लड़का लाठी लिये हुए लल्लू की ओर बढ़ा। लल्लू कल्लू को छोड़कर भागा और भागते-भागते अपनी धोती में उलझकर गिर पड़ा। फिर उठकर भागते हुए कहा—“अब आगे बढ़ोगे तो ठीक नहीं होगा।”

मैं ठठाकर हँसा तो पास बैठे दादाजी चौंककर बोले—“क्या है, बेटे ?”

“दादाजी, आपकी एक पुरानी डायरी हाथ लग गई थी, उसीमें कल्लू और लल्लूवाली घटना पढ़ रहा था।”

दादाजी भी हँसे—“अच्छा वो।”

“बड़े अजीब और अनर्गल लोग होते थे उस जमाने में, दादाजी !”

“क्यों, अब नहीं होते ?”

“अब वैसे कहाँ होते हैं ?”

“होते हैं बेटा, होते हैं। हाँ, अब वैसे नहीं होते, क्योंकि वे लोग अपढ़ थे, अब पढ़े-लिखे लोग हैं।” कहकर वे टी.वी. देखने लगे, जिसमें संसद की बहस चल रही थी।



दिल्लन ढौंढियाल



रमेशजी मेरे यहाँ आते ही बोले—“भाई साहब, रेडियो-वार्ता का एक अनुबंध भेजा था, आपकी स्वीकृति नहीं मिली। आपको अनुबंध-पत्र मिला नहीं क्या, या विषय पसंद नहीं आया?”

“भाई, अनुबंध-पत्र भी मिल गया है और विषय भी पसंद है, लेकिन आपने क्या जिगोरिकजी से यह विषय और वक्ताओं के नाम सैंक्शन करा लिये हैं?”

“जिगोरिक! ये क्या हमारे डायरेक्टर लगे हैं?”

“अरे भाई, ये आपके डायरेक्टर से भी बड़ी चीज हैं, जिसे चाहें उजाड़ दें, जिसे चाहें बसा दें।”

“मगर ये हैं कौन, और मैं इनसे क्यों सैंक्शन लेने लगा?”

“अरे, ये हमेशा आपके कार्यक्रमों की आरती उतारते रहते हैं और आप पूछते हैं—हैं कौन? अभी कल के ही ‘दैनिक सवेरा’ में आपके पिछले कार्यक्रम की आरती उतारी गई थी। आरती की एक लौ मेरे चेहरे पर भी पड़ी थी।”

रमेश ठठाकर हँसे और बोले—“अच्छा, वो जिगोरिक। तो?”

“तो क्या! अरे, बेहतर यही होगा कि कोई विषय तय करें तो उनसे राय लें और किन लोगों से बहस करानी है, यह भी उन्हींसे पूछ लिया कीजिए।”

“तो?”

“तो यह कि आपके कार्यक्रमों की प्रशंसा छपा करेगी।”

“तो आप यह चाहते हैं कि मैं अपने कार्यक्रम को एक गिरोह के हवाले कर दूँ? अरे, वे निंदा करते हैं तो करें, उनकी प्रशंसा और निंदा का कोई मूल्य है क्या? आखिर उसके लिए भी एक औकात होती है।”

“अरे भाई, मूल्य उनका नहीं है, लेकिन अखबार का तो है। अखबार के माध्यम से गलत बात भी बार-बार कही जाए तो सही लगने लगती है। और नहीं तो चटखारे लेनेवाले एक खास तरह के पाठकों को इस तरह के लेखन से सुख

मिलता ही है—खुजली खुजलाने जैसा सुख।”

“लेकिन कई बार तो वे वह सुख भी नहीं दे पाते। वैसे वे अपने को बहुत बड़ा व्यंग्यकार समझते होंगे; लेकिन जब यही पता न हो कि क्या कहा जा रहा है और टूटे-टूटे, एक-दूसरे की लँगोटी को खींचते विचार, उखड़े-उखड़े वाक्यों पर उछलते-कूदते चलते हों तो वे दूसरों पर व्यंग्य करने के स्थान पर अपने ही पर व्यंग्य बन जाते हैं। सच पूछिए तो उनका सारा लेखन अरोचकी वृत्ति से अनुशासित है।”

“लेकिन अजीब है न कि ये केवल निंदा करने के लिए घंटों ढेर सारे कार्यक्रम देखते और सुनते हैं। यानी सुबह से देर रात तक ये यही काम करते हैं तो और काम कब करते होंगे?”

“अरे भाई, यह काम कम महत्त्व का है क्या! इसी काम से ये कई-कई अखबारों के पेट भरते हैं और अखबार इनकी जेब भरते हैं, मीडिया पर रोब-दाब पड़ता है, वह अलग से।”

“तो भी।”

“अच्छा सुनिए, आपको एक घटना सुनाता हूँ। छात्र-काल में हम कुछ मित्र एक बार भारत-भ्रमण पर निकले। हममें से एक थे, प्राचीन इतिहास और संस्कृति के छात्र दिल्लन ढौंढियालजी। वे परम नैतिकतावादी थे। जब हम लोग, इस प्रक्रिया में खजुराहो पहुँचे तो उनका विचित्र रूप सामने आया। हम लोग भित्त मूर्तियों को देखते हुए आगे बढ़ जाते थे, किंतु ढौंढियालजी हर मूर्ति के आगे खड़े होकर देर तक निहारते थे। फिर मुँह विचकाए हुए हमारे पास आ जाते थे और कहते थे—‘छी:-छी:-छी: ! कितने अश्लील चित्र हैं—चरम अनैतिक और विकृत!’ हम लोग मुसकराकर आगे बढ़ जाते थे और वे फिर किसी मूर्ति के सामने खड़े होकर उसमें खो जाते थे।”

एक हँसी पड़ी। “वाह-वाह, क्या कहने ढौंढियाल साहब की नैतिकता के!” मैंने कहा।

“और मुझे लगता है, बंधु, कि ढौंढियाल साहब आज तक उन मूर्तियों के सामने खड़े हैं और रह-रहकर छी:-छी:-छी: कहे जा रहे हैं।”



विरोध



गोष्ठी के संयोजक ने अपना भाषण शुरू किया—“तो मित्रो, आपको पता ही है कि यह गोष्ठी क्यों बुलाई गई है। शिक्षा मंत्रालय ने अंतरराष्ट्रीय साहित्य सम्मेलन का आयोजन किया है, जिसमें विश्व के प्रतिनिधि साहित्यकार भाग लेने आ रहे हैं। सरकार ने हिंदी साहित्य के जिन प्रतिनिधियों को चुना है, हम सब उनकी औकात जानते हैं। वे सबके सब प्रतिक्रियावादी और सुविधाभोगी लेखक हैं। हमारे तेजस्वी लेखकों की घोर उपेक्षा हुई है। इसे हम बरदाश्त नहीं कर सकते। उस सम्मेलन का विरोध करने के लिए ही यह गोष्ठी आयोजित की गई है। यहाँ एकत्रित हमारे विशिष्ट लेखक इस सम्मेलन के संबंध में अपने-अपने विचार रखेंगे, ताकि सरकार और उसके पिट्टू साहित्यकारों को वास्तविकता का बोध हो सके। तो सबसे पहले मैं नई कविता के तेजस्वी कवि ‘क’ को आमंत्रित करता हूँ।”

कवि ‘क’ बड़ी जल्दी से उठे। धीरे से अपने लंबे बालों को एक झटका दिया, थोड़ा मुसकराए; जैसे कोई बहुत बड़ी बात कहने जा रहे हों। बोले—“हमारी पूँजीवादी सरकार अमेरिका के प्रभाव में है। सच पूछिए तो यह सारा पैसा अमेरिका का ही लग रहा है, इसलिए अमेरिका कैसे चाहेगा कि इस सम्मेलन में वे लेखक भाग लें, जो समाजवाद की लड़ाई लड़ रहे हैं; जो पैसे नहीं, मनुष्यता के पक्षधर हैं; जो पूँजीवादी देशों की गहरी शोषण-लिप्सा और गैर बराबरी के सिद्धांत के खिलाफ अपनी सार्थक आवाज उठा रहे हैं। हम लेखक इस सम्मेलन का बायकॉट तो करते ही हैं, सरकार को चेतावनी भी देते हैं कि वह सँभल जाए और देश के सही लेखकों को पहचाने, नहीं तो हम उसकी धज्जियाँ उड़ा देंगे।”

जोरदार तालियाँ बजीं और कवि ‘क’ धीरे-धीरे चलते हुए अपनी जगह पर लौट आए।

जब संयोजक ने कवि ‘ख’ का नाम पुकारा तो उन्होंने अपनी जगह पर

खड़े होकर कहा—“हमारी पीढ़ी के श्रेष्ठ कवि ‘क’ ने अपने जो विचार रखे हैं, मैं उनसे सहमत हूँ। उन्होंने थोड़े में सबकुछ कह दिया है। अब कहने को बचा ही क्या है!”

वह अपनी जगह पर बैठ गया तो किसीने धीरे से कहा—“अरे, यह तो ‘क’ का चमचा है; जो ‘क’ कहेगा, उसीको लालीपॉप की तरह चुभलाएगा।”

संयोजक ने ऐलान किया—“भाइयो, अब प्रख्यात जनवादी कहानीकार और महान् उपन्यासकार ‘ग’ अपने गरम-गरम विचार व्यक्त करेंगे।”

गोल-मटोल से गोरे-गोरे से एक प्रख्यात कथाकार, जिन्होंने एक अचर्चित छोटी उपन्यासिका तथा रूमानी संवेदना की कहानियाँ लिखी हैं, मंच की ओर बढ़े; जैसे धीरे-धीरे कोई गेंद लुढ़कती जा रही हो।

वे बोले—“साथियो, यह कितनी बड़ी बदतमीजी है सम्मेलन के संयोजकों की कि वे हमारे बिना साहित्य के होने की कल्पना भी करते हैं। हम साहित्य के बड़े चिंतक और बड़े सर्जक हैं। सही मायने में हमीं साहित्यकार हैं, क्योंकि हमारी दृष्टि बहुत उदार और अंतरराष्ट्रीय है। जब-जब देश से बाहर कोई जुल्म होता है, हम चिट्ठियाँ छपा-छपाकर उसका विरोध करते हैं, लेकिन देश में होनेवाली घटनाओं के प्रति चुप रहते हैं। घर के मामले में बोलना स्थानीय संकीर्णता का द्योतक है, इससे हमारी अंतरराष्ट्रीय चेतना आहत होती है। धन्यवाद।”

संयोजक ने अब विद्रोही कथाकार ‘घ’ को आमंत्रित किया।

झरबेरी के काँटों की तरह अपने बालों में हाथ फेरते हुए चेचक के दागवाले काले-कलूटे, लंबे से कथाकार ‘घ’ बोलने को उठे। वे मंच की ओर बढ़ें, इसके पहले ही चपरासी आया और पूछा—“‘घ’ साहब कौन हैं? उनका फोन है।”

“कहाँ से आया है?” ‘घ’ ने पूछा।

“अरे साहब, कोई अमेरिकी एंबेसी बता रहे थे। कह रहे थे कि कह दो, बाहर से कुछ लेखक आए हैं, अभी मिलना है।”

“माफ़ करना दोस्तो, लगता है कि अमेरिकी साहित्यकार हैं। मुझे इस गोष्ठी में जाना ही होगा। इन पूँजीवादी लेखकों से सीधे लड़े बिना प्रगतिवादी मोर्चा सफल नहीं होगा।”

कथाकार ‘घ’ चले गए और उनके मन में अपनी कहानियों के अनुवाद को एक लंबी फेहरिस्त नाचने लगी।

संयोजक ने पुकारा—“अब मैं नाटककार ‘च’ से निवेदन करता हूँ कि वे विषय पर बोलें।”

नाटककार 'च' पहले तो उठे नहीं। लोग उन्हें देखने और हँसने लगे। फिर झटके से उठकर माइक के पास पहुँच गए। बोले—“वैसे तो इस विषय पर बहुत कुछ कहा जा सकता है, मगर.....”

चपरासी आया और आवाज लगाई—“‘च’ साहब कौन हैं?”

“हाँ भाई, कहो, मैं खड़ा हूँ।”

“अरे साहब, आपका फोन है। मजे हैं आपके! मिनिस्टर साहब खाली हैं, कुछ लेखकों से अभी मिलना चाहते हैं। आपको बुलाया है।”

“क्या बकवास करता है! मिनिस्टर साहब का कोई गुलाम हूँ मैं! लेकिन नहीं, उन्हें साहित्य के बारे में कोई सलाह लेनी होगी। वे इस सम्मेलन के अधिकारियों की तरह कोई गलत निर्णय न ले लें, इसलिए मुझे जाना ही पड़ेगा। धन्यवाद!” च झटके से चले गए।

“अब नाटककार ‘छ’ से प्रार्थना है कि वे कुछ कहें।” संयोजक की आवाज थी।

“कहाँ हैं, कहाँ हैं,” एक फुसफुसाहट उठी। मालूम पड़ता है कि वे मिनिस्टर के यहाँ जानेवाले ‘च’ को बाहर तक पहुँचाने गए हैं। भीड़ में से एक आदमी उठ खड़ा हुआ। वह संयोजक को संबोधित करता हुआ बोला—“यदि आदेश हो तो मैं भी दो शब्द कहूँ।”

“आइए-आइए, यह तो खुला मंच है।”

“मैं बाहर से आया हुआ हूँ। मेरा नाम ‘ह’ है। मैं भी एक छोटा-मोटा साहित्यकार हूँ। मुझे ऐसा लगता है कि आप लोग सम्मेलन का विरोध इसलिए कर रहे हैं कि आपको वहाँ नहीं बुलाया गया। मैंने तो सोचा था कि आप लोग समग्र भाव से साहित्यकारों के आत्मसम्मान और स्वतंत्र चिंतन को प्रसनेवाली व्यवस्था से लड़ाई का कोई रास्ता खोजेंगे; किंतु आप लोग तो स्वयं व्यवस्था में अपने न हो पाने का दर्द बाँट रहे हैं और उसमें घुसने का रास्ता खोज रहे हैं। मैं.....”

संयोजक ने उसे देखते हुए कहा—“रुकिए, हम लोग आपको जानते हैं, आप व्यवस्था के आदमी हैं। आप बहाने से व्यवस्था का समर्थन कर रहे हैं।”

भीड़ में से शोर उठा—“आप नासमझ हैं, आप व्यवस्था के चमचे हैं, आप प्रतिक्रियावादी हैं, आप गद्दार हैं।”

‘ह’ ने हँसते हुए कहा—“मैं तो दूर से आप लोगों के बहुत नाम सुनता था, आज साक्षात्कार भी हो गया। ‘मैं क्या हूँ?’ इसे आप लोग नहीं बताएँगे तो कौन बताएगा! मुझे आप लोगों के विद्रोह पर तरस आता है और मैं ऐसे नकली विरोधी

सम्मेलन से स्वयं वाकआउट करता हूँ।”

ह ह ह ह... हा हा हा हा हा... ही ही ही ही... हँसी का शोर मचा।

“और अंत में इस पीढ़ी के सर्वाधिक उग्र और प्रचंड आलोचक ‘ज’ से कहूँगा कि वे कुछ कहें।” संयोजक ने बात आगे बढ़ाई।

आँखों में एक मीठी मुसकान लपेटे, धीरे-धीरे सिगार चूसते हुए सुंदर सूट और टाई में आलोचक ‘ज’ मंच की ओर बढ़े। उनकी चाल में पूरी पीढ़ी पर एहसान का-सा भाव टपक रहा था।

पहले मुसकराकर, फिर एकाएक जोश में आकर वे बोले—“मेरी मान्यता है कि सारी व्यवस्था रूमानीयत की शिकार है। रूमानी आदमी स्वनिष्ठ और मूर्ख होता है। सारी पिछली पीढ़ी रूमानी होने के कारण स्वनिष्ठ और मूर्ख है। उस पीढ़ी के लोग व्यवस्था से चिपके हुए हैं। आखिर वे लोग क्रांतिकारी साहित्य को, उसके अस्वीकारी स्वर को क्योंकर समझने और बरदाश्त करने लगे! वे लोग तो पदों, पैसों और पुरस्कारों के पीछे दौड़नेवाले हैं। हमें संगठित रूप से इनपर चोट करनी ही होगी।”

एक व्यक्ति ‘इवनिंग न्यूज’ लिये आया और एक खबर धीरे-धीरे सभा में फैल गई। फिर एक आदमी ने उठकर कहा—“बधाई हो ‘ज’ महोदय, आपकी पुस्तक पर प्रादेशिक सरकार ने दस हजार का पुरस्कार दिया है।”

चौंकने के-से भाव से ‘ज’ बोले—“क्या, मेरी पुस्तक पर पुरस्कार? असंभव!”

“नहीं-नहीं, ‘ज’ महोदय, यह सच है, देखिए ‘इवनिंग न्यूज’ में छपा है।” कई स्वर एक साथ उठे।

“ठीक है, जब छपा है तो सच ही होगा। लगता है, हम लोगों के संगठन से व्यवस्था घबराने लगी है, नहीं तो दक्कियानूस रोमांटिकों से छनकर पुरस्कार हमारे पास तक भला कैसे पहुँचता! देखा न, संघबद्ध प्रतिकार का परिणाम। अब मैं क्या कहूँ इससे अधिक!”

“अब और किसीको बोलना हो तो बोल ले, भाई।” संयोजक की आवाज थी।

एक आदमी बाहर से आया और एक चिट संयोजक के हाथ में पकड़ा दिया।

संयोजक खुशी से चिल्लाया—“मित्रो, देखा इस प्रतिरोध की शक्ति को! एक शुभ समाचार और है। सम्मेलन के अधिकारियों ने दो नाम और बढ़ा दिए हैं अपने प्रतिनिधि लेखकों की सूची में। वे दो नाम हमें ही चुनकर भेजने होंगे। आप

लोग दो नामों के सुझाव दीजिए।”

कवि ‘क’ ने कहा—“कविता साहित्य की सबसे सशक्त विधा है और मैं नई पीढ़ी का सबसे महान् कवि हूँ, इसलिए मैं जाऊँगा। मेरे साथ ‘ख’ जाएगा।”

“झूठ! अब कविता को पछाड़कर कथा केंद्रीय विधा बन गई है और मैं नई पीढ़ी का महान् कथाकार हूँ, इसलिए मैं जाऊँगा।” ये कथाकार ‘ग’ थे।

“‘काव्येषु नाटकं रम्यं’ यह तो पहले ही आचार्यों द्वारा निर्णीत हो चुका है, बंधुओ। और आज आप देख ही रहे हैं, मंच पर मेरे नाटकों की धूम है और नाटक का जनता से सीधा संबंध है। इसलिए मैं तो जाऊँगा ही, मेरे साथ और कोई भी एक आदमी हो ले, क्या फर्क पड़ता है!” नाटककार ‘छ’ ने विश्वास से कहा।

‘ज’ मुसकराकर बोले—“मेरे होते हुए आप लोगों को यह महान् मूर्खता दिखाते की जरूरत नहीं। अरे, आलोचक तो साहित्यकारों को बनाता है, मैं जाऊँगा तो कुछ ठोस बातें होंगी। रही बात दूसरे आदमी की, सो कोई भी कवी-फवी, कथाकार-फथाकार, नाटककार-फाटककार हो ले। अपने को क्या!”

“तुम सब मूर्ख हो! एक-एक कहानी-नाटक लिखकर महान् बने हुए हो और ‘ज’ महोदय तो बिलकुल निकम्मे हैं, आलोचना के नाम पर केवल कनकौए उड़ते हैं।” ‘क’ ने कहा।

“.....तुम तो रोमांटिक कवि हो, झूठे ही नए कवि बने हुए हो। सच्चे अर्थों में मैं ही यथार्थवादी और विद्रोही साहित्यकार हूँ। नाटक-फाटक, आलोचना-फालोचना सब गौण विधाएँ हैं।” ‘ग’ की फटकार थी।

“.....तुम सभी उलटी खोपड़ी के हो। केवल नाटक ही जनवादी रचना है। तुम लोग जनवाद के नाम पर व्यवस्था का विरोध करने को तैयार हो तो जनवादी साहित्य के प्रणेता को ही सम्मेलन में जाने का अधिकार है।” ‘छ’ फिर बोला।

“.....अरे तुम लोग खामखाह लड़ रहे हो, मित्रो। सच बात तो यह है कि तुम लोग एंटी रोमांटिक साहित्य लिखने का दावा करते हुए भी घोर रोमांटिक हो। यानी वही हो जो रोमांटिक होता है। इसलिए मैं किसीको भी वहाँ मौख्य प्रदर्शन के लिए जाने नहीं दूँगा। मैं साहित्य का शास्ता हूँ। मेरा आदेश तुम सबको मानना होगा।” ‘ज’ का आदेशात्मक स्वर गूँजा।

एक साथ कई स्वर प्रतिरोध में आपस में टकराने लगे।

“अरे, तेरे जैसे आलोचक की ऐसी की तैसी!”

“तेरी ऐसी-तैसी!”

“तू मूर्ख है!”

“तू रोमांटिक है।”

“तू बुर्जुवा है।”

“तू प्रतिक्रियावादी है।”

“तू गद्दार है।”

‘क’ ‘ख’ ‘ग’।

‘छ’ ‘ज’।

‘ज’ ‘क’ ‘ख’, ‘क’ ‘ख’, ‘घ’ ‘छ’।

चक्राकार स्वर उठने-गिरने लगे। कुछ हाथापाई भी शुरू हो गई। लोग धीरे-धीरे वहाँ से भागने लगे।

हाथापाई में लोगों की जेबें फट गई और सबकी जेबों में छिपे अमेरिकी बीसा या बीसे के आवेदन-पत्र गिर पड़े। सभी एक-दूसरे का मुँह देखने लगे; मानो दूसरों के चेहरों में अपना ही चेहरा देख रहे हों। स्तब्ध चेहरों पर धीरे-धीरे मुसकराहट फूटने लगी। फिर सभी ने झुककर अपनी-अपनी संपत्ति उठा ली और ठठाकर हँस पड़े।



हँसें या रोएँ



चाय पी चुकने के बाद गिरीशजी ने पूछा—“क्यों भाई अखिल, ‘आकलन’ का नया अंक मिला?”

“हाँ भाई, वह तो तीन-चार दिन पहले ही मिल गया था। आपने अपने संपादकीय में लगातार मोतीराम मोतिहारी की ऊल-जलूल संपादकीय टिप्पणियों पर तार्किक प्रहार किया है, लेकिन इस बार चुप्पी साध ली। क्या आपने इस बार का उनका संपादकीय नहीं पढ़ा; जिसमें उन्होंने लिखा है कि पूरा हिंदी साहित्य ब्राह्मणवादी है!”

गिरीशजी हलके से मुसकराए और बोले—“अरे भाई, ‘आकांक्षा’ मोतिहारीजी की अपनी पत्रिका है और वे नए-नए दलित विचारक हुए हैं, वे जो चाहे कहें। उनके साथ एक गिरोह भी तो है। पहले तो मैंने उनकी टिप्पणियों को वैचारिक मुद्दा मानकर उनपर विचार किया, किंतु अब लग रहा है कि वे चर्चा में बने रहने के लिए जानबूझकर ऊल-जलूल टिप्पणियाँ फेंकते रहते हैं।”

“तो भी आपको इसका जवाब देना चाहिए था।” कहकर मैं गंभीर हो गया। गिरीशजी ने मेरे असंतोष को लक्षित किया तो बोले—“अच्छा सुनिए, मैं आपको एक कहानी सुनाता हूँ।”

मुझे विचित्र लगा कि कहाँ मैं मोतिहारीजी की इतनी विवादास्पद टिप्पणी की बात कर रहा हूँ, कहाँ इन्हें कहानी सूझ रही है। फिर भी मरे हुए मन से मैंने कहा—“सुना ही डालिए, बंधु!”

“तो सुनिए! हमारे मोहल्ले में एक नामी कवि थे—सुमनेशजी। वे अपने तमाम चले-चाटियों के साथ कवि सम्मेलनों में जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे अपने पंद्रह-बीस चेलों के साथ गाड़ी के एक छोटे कंपार्टमेंट में बैठे हुए एक कवि सम्मेलन में जा रहे थे। एक स्टेशन पर दो-चार विद्यार्थी आए और इनके डिब्बे में घुसने की कोशिश करने लगे। सुमनेशजी ने डपटकर कहा—

‘अंदर जगह नहीं है।’ और अंदर से डिब्बा बंद कर लिया। गाड़ी में बड़ी भीड़ थी, अतः वे विद्यार्थी सुमनेशजी के डिब्बे के बाहर लटके हुए यात्रा करने लगे और सुमनेशजी अपने शिष्यों को कविताएँ सुनाते रहे और शिष्य-मंडली वाह-वाह करती रही। दूसरे स्टेशन पर कुछ और छात्र आ गए। सबने मिलकर डिब्बा खोलने का आग्रह किया, किंतु फिर वही स्थिति दोहराई गई। स्टेशन आते गए छात्रों की भीड़ बढ़ती गई। एक स्टेशन पर संघर्ष की नौबत आ गई। छात्र आक्रामक मूड में आ गए। इधर सुमनेशजी दलपति के रूप में खिड़की के पास आकर अपनी बात दोहराने लगे। छात्रों में से एक ने चिल्लाकर कहा—‘यही सरवा नेता है, जो हमें अंदर नहीं आने दे रहा है।’ फिर क्या था, कुछ छात्रों ने लपककर सुमनेशजी की गरदन पकड़ ली और उन्हें बाहर की ओर खींचने लगे। अजब दृश्य था। सुमनेशजी अपने चेलों को ललकार रहे थे—‘शाबाश, मेरी टाँग मत छोड़ना।’ ”

“तब ?” मैंने जिज्ञासा से पूछा।

“तब क्या! अरे, अंत में छात्रों ने ही आपस में कहा—‘छोड़ दो यार इसे, बड़ा बेहया है।’ ”

हम दोनों चुप थे, शायद इस भाव से कि हँसें या रोएँ।



एक कहानी लगातार



‘चकबंदी’ हो रही है। सुनकर लोगों में उत्तेजना आ गई थी। पैसेवाले सजग हो गए थे पैसे लेकर और बिना पैसेवाले सजग हो गए थे निवेदन लेकर। पैसेवालों को चिंता थी कि कैसे दूसरों के अच्छे खेत हड़प लिये जाएँ और बिना पैसेवालों को चिंता थी कि कैसे वे अपने खेत बचाए रखें।

मिस्टर भानुकुमार ए.सी.ओ. होकर आए थे। बाबू साहब की छावनी पर रुके थे। उनके यहाँ दस-दस बजे रात तक लोगों की भीड़ जमा रहती थी। हर आदमी सोचता था कि भीड़ छूट तो वह अपनी बात कहे; किंतु एक-दूसरे के डर से कोई भी उठने को तैयार नहीं होता था। मिस्टर भानुकुमार विनोदी स्वभाव के थे। वे अपने यहाँ जमा भीड़ का मजा लेते रहते थे। लोगों को आपस में टकराकर उनके ठेठ देहाती संवादों का लुत्फ उठाते रहते थे। सबको लगता था कि ये जनता के बीच के आदमी हैं। इन तक सबकी पहुँच आसान है। इनके दरबार में सभी लोग साथ ही होते हैं, फिर इन्हें घूस देकर काम कराने का सवाल ही नहीं उठेगा।

लेकिन जब चकबंदी होने लगी तो धीरे-धीरे सबको ज्ञात होने लगा कि सबसे अच्छे चक तो पैसेवालों को मिल रहे हैं और बची-खुची जमीन गरीबों पर फेंक दी जा रही है। आपस में पैसे की दौड़-प्रतियुद्धा शुरू हो गई। जो पैसे नहीं दे सकते थे, वे खुद दौड़ने लगे। आपत्तियों-पर-आपत्तियाँ दर्ज होने लगीं। मुकदमे शुरू हो गए। पूरा वातावरण गरम होकर बजबजाने लगा। मिस्टर भानु का दरबार उसी तरह चलता रहा, हँसी-मजाक का दौर उसी तरह बरकरार रहा।

उस दिन भानुकुमार के आमंत्रण पर उनका बी.ए. का सहपाठी मित्र अमित आया हुआ था। वह भी दरबार में शामिल हो गया। उसने पूछा—“भाई, यह सब क्या है?”

“अरे पूछो मत, यार! बहुत बीहड़ इलाके से पाला पड़ा है। कोई भी निर्णय लो, खैर नहीं। निर्णय से पहले आपत्तियाँ दाखिल हो जाती हैं। हर आदमी

स्वाधी है, चाहता है, अच्छे खेत उसीको मिलें। मैं वाला क्या कहूँ जो खेत है, उहाँको से न सक बनाने जाऊँ।”

अमित हँसा। बोला—“तो भी तुम हँसो—मजाक का मजा म लगाए हुए हो।”

“हाँ मार, इस देहात में और कोई मनोरंजन तो है नहीं, यही सही।”

अमित रोधीर हो गया। उसका कोई-सी आदर्शवाद अभी सुरक्षित था। वह अपने भित्त भानु को अच्छी तरह जानता था। इसे जनता मनोरंजन का साधन लग रही है। उसको दृष्टि दरबार के पीछे की ओर एकदम चुपचाप सुते-सुते से बैठे एक गरीब आदमी पर टिकी हुई थी। वह सोच रहा था, जरूर इसके साथ कुछ अश्रुति भला है। आखिर वह उस आदमी से पूछ ही बैठा—“तुम्हारा क्या नाम है, भाई?”

लोगों ने धूमकर उसकी ओर देखा और एक आदमी बोला—“अरे, इसका नाम बुधई है, सरकार। यह बहुत अच्छी कहानियाँ सुनाता है।”

“जरूर सुनाता होगा,” उसने सोचा। इतना दुःखी आदमी ही कहानियाँ सुनाता है।

“सुना न, बुधई, सरकार को कोई कहानी।”

बुधई ने नकार के भाव से सिर हिला दिया।

“अरे रोज तो सुनाता है, आज क्या हो गया?” भानु ने कहा।

“सरकार कह रहे हैं तो सुनाना ही पड़ेगा।” बुधई ने सोचा। फिर बोला—

“ठीक है सरकार, आपके दोस्त आए हैं तो सुनाना ही पड़ेगा।”

सभी लोग सावधान हो गए। बुधई की आवाज उभरी—

“एक मदारी था, सरकार! उसके पास एक बंदर था और एक बकरा था।

मदारी रोज शहर जाया करता था, खेल दिखाने के लिए।”

“हाँ भाई, कौन-सा खेल दिखता था?” कोई बोला।

“उस खेल में बंदर साहब बनता था और बकरा एक गरीब आदमी। बंदर कुर्सी पर बैठता था और बकरा उसके सामने आगे के दोनों पाँव उठाकर सलाम चोलता था, कभी उसके पाँवों में सिर डालकर नीचे बैठ जाता था। बंदर कभी-कभी उसकी पीठ पर सवार होकर दर्शकों के बीच घूमता था।” इतना कहकर बुधई ने अमित की ओर देखा कि सुन रहे हैं न।

“हाँ भाई, सुन रहा हूँ, आगे सुनाओ।” अमित ने कहा।

“तो सरकार, मदारी के गाँव और शहर के बीच एक जंगल पड़ता था। वहाँ नदी के किनारे एक पेड़ के नीचे वह सुस्ताता था और साथ ले गया हुआ खाना खाता था। उस दिन वह अपने साथ चूरमा ले गया था। उस पेड़ के नीचे

१४२ ❖ एक कहानी लगातार

पहुँचकर अपना सामान उतार दिया और सोचा, नदी में नहा-धोकर आएगा। तब चूरमा खाएगा। वह चला गया तो बंदर के मुँह में पानी आ गया। वह सारा चूरमा खा गया और उसका बचा-खुचा भाग बकरे के मुँह पर मल दिया। नदी से लौटकर मदारी ने चूरमा खाना चाहा तो देखा, वह तो सफाचट हो गया है। बकरे के मुँह पर उसके चूरन देखकर उसने उसीको अपराधी मान लिया और उसे डंडे से पीटने लगा। बकरा बेचारा भूखे पेट मार खाता हुआ इधर-उधर भागता रहा और सारा चूरमा हड़पकर बंदर मन-ही-मन हँसता रहा।”

बुधई चुप हो गया तो किसीने पूछा—

“फिर क्या हुआ?”

“फिर कुछ नहीं हुआ, जो उस समय हुआ वही चलता रहा—आज तक चल रहा है।” अमित ने कहा।

कुछ देर तक चुप्पी छाई रही।

“बहुत अच्छी कहानी है, बुधई।” भानुकुमार ने झंपते हुए कहा। फिर तो दूसरों ने भी कहा—“हाँ सरकार, बहुत अच्छी कहानी है।”

“हाँ भाई, कहानी तो अच्छी होगी ही। आखिर हमारे अपने पूर्वज की बुद्धिमानी की कहानी है।” कहकर अमित उठ खड़ा हुआ और भानुकुमार से बोला—“भाई, बहुत रात हो गई है, अब क्या इरादा है?”

Acc nos- 3112

जन्म : १५ अगस्त, १९२४

ग्राम—डुमरी (गोरखपुर)

शिक्षा : एम.ए., पी-एच.डी.

प्रकाशित साहित्य—पथ के गीत, बैरंग-बेनाम चिट्ठियाँ, पक गई है धूप, कंधे पर सूरज, दिन एक नदी बन गया, मेरे प्रिय गीत, बाजार को निकले हैं लोग (गजल), जुलूस कहाँ जा रहा है, रामदरश मिश्र की प्रतिनिधि कविताएँ, आग कुछ नहीं बोलती, शब्द सेतु, बारिश में भीगते बच्चे (काव्य रचनाएँ); पानी के प्राचीर, जल टूटता हुआ, बीच का समय, सूखता हुआ तालाब, अपने लोग, रात का सफर, आकाश की छत, आदिम राग, बिना दरवाजे का मकान, दूसरा घर, थकी हुई सुबह, बीस बरस (उपन्यास); खाली घर, एक वह, दिनचर्या, सर्पदंश, बसंत का एक दिन, इकसठ कहानियाँ, अपने लिए, मेरी प्रिय कहानियाँ, श्रेष्ठ आंचलिक कहानियाँ, आज का दिन भी (कहानी-संग्रह); कितने बजे हैं (ललित निबंध); तना हुआ इंद्रधनुष, भोर का सपना (यात्रा-वर्णन); सहचर है समय (आत्मकथा); स्मृतियों के छंद (संस्मरण)।



प्रकाशन, दिल्ली